ओ३म्

पितृयज्ञः ॥

इस में सन्देह नहीं है कि अद्यपर्यन्त कई एक पुस्तकें पितृयज्ञ विषयक लिखी जा चुकी हैं ,और ऐसे विषय को पुनः पुनः पुस्तकाकार में प्रस्तुत करना पिष्टपेषण ही प्रतीत होगा परन्तु मैं इस लेख में यह दिखलाना चाहता हूं कि वैदिक मन्त्रों तथा अन्य आर्षग्रन्थों द्वारा तर्कादि को परित्याग करते हुए हम शब्द प्रमाण मात्र से किस प्रकार पितृयज्ञ को मानने के लिये उद्यत हो सकते हैं क्योंकि इस समय इस प्रकार के अनेक प्रश्न किये जाते हैं कि क्षुद्रबुद्धि पुरुष अपनी २ बुद्धियों के अनुसार वेदादि सत्य शास्त्रों को भी तर्क से लगाना चाहते हैं यह नहीं कि वेदादि आर्षग्रन्थों द्वारा अपनी बुद्धि का भी संशोधन करने का प्रयत्न करें, जिस से उनके ज्ञान और विद्या की वृद्धि होकर उन के आत्मिक सूर्य्य से अविद्या अन्धकार आवरणरूप मेघ सर्वथा पृथक होकर उनको परमानन्द की प्राप्ति हो सके जिसके लिये लोक में धर्म २ की डोण्डी चारों ओर प्रत्येक मतवादि दे रहा है ॥

सभ्यगण मेरी इच्छा है और मैं इस लेख में अपने मित्र की प्रेरणानुसार केवल वेदादि आर्षग्रन्थों के सहारे से ही

अन्वेषण करना चाहता हूं इस लिये आशा है कि मित्र सभ्यगण अवश्य मेरे इस निवेदन पर ध्यान देकर मुझे कृतार्थ करेंगे। मन्वादि स्मृतियों में इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्यों हम गृहस्थियों को पितृयज्ञादि पञ्चयज्ञ करने आवश्यक हैं मनु जी आज्ञा देते हैं कि:—

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता॥
३। ८०॥ मनुः

कुल्लूकभट्ट जी टीका करते हैं कि "एते गृहस्थेभ्यः सकाशान्प्रार्थयन्ते अतः शास्त्रज्ञेन तेभ्यः कर्तव्यम्"॥

जिसका शब्दार्थ यह है कि चूंकि, ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि, गृहस्थियों से प्रार्थना करते हैं, इस कारण शास्त्र के जानने वाले पुरुष को यह यज्ञ अवश्य करने चाहियें॥

प्रश्न किया गया है कि किस प्रकार से हम लोग इन पञ्च यज्ञों को पूर्ण कर सकते हैं जिस से वह ऋषि आदि पञ्चगण हम पर सन्तुष्ट हों, तो स्मृति वर्णन करती है कि—

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥
३। ८१ मनुः

इसका तात्पर्य्य यह है कि स्वाध्याय अर्थात वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना सन्ध्योपासन योगाभ्यासादि के करने से ऋषि यज्ञ अर्थात ऋषियों का पूजन और दूसरा

होम अर्थात् सत्संग, सेवा, पवित्रता, दिव्यगुणों का धारण, दातृत्वविद्या की उन्नति तथा अग्नि में हव्य पदार्थों का विधि पूर्वक डालना इत्यादि करने द्वारा देवताओं का पूजन करे तीसरा जो इस लेख का तत्वतः विषय है, श्राद्ध द्वारा पितरों का पूजन करे, चौथा अन्नादि द्वारा नरों अर्थात अतिथियों का और पांचवां बलिकर्म द्वारा भूतों का पूजन करे ॥

इसी विषय को पुनः दृढ़ करते हैं :—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥
३ । ७० ॥

इस पर टीकाकार स्पष्टतया लिखते हैं, अध्यायन शब्देनाध्यायनमपिगृह्यते । जपोऽहुतमिति वक्ष्यमाणत्वादतोऽध्यापनमध्ययनं च ब्रह्मयज्ञः, अन्नाद्येनोदकेन वा इति पितृतर्पणं वक्ष्यति स पितृयज्ञः, अग्नौ होमो वक्ष्यमाणो देवयज्ञः । भूतबलिर्भूतयज्ञः अतिथिपूजनं मनुष्ययज्ञः, अध्यापनादिषु यज्ञशब्दो महच्छब्दश्च स्तुत्यर्थौ गौणः ॥ "

इस के भाव अर्थ वही हैं जो मैने ऊपर प्रकट कर दिये हैं, केवल चूंकि यह श्लोक ७० का है अतएव टीकाकार इस बात को स्पष्ट प्रकार से लिखते हैं कि पितृयज्ञ आदि को आगामी श्लोकों में वर्णन किया जावेगा जिसको मैं यहीं दिखलाना चाहता हूं, स्वयं, स्मृतिकार प्रश्न करते हैं कि पितृश्राद्धकिन वस्तुओं से करना उचित है जिस को ७० श्लोक में तर्पणशब्द से दर्शाया गया है ॥

कुर्य्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेनवा
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ३ ८२

प्रतिदिन प्रीतिपूर्वक अन्नादि, उदक , जल, दुग्ध, मूल अथवा फल, से यथा सम्भव श्राद्ध को करे ॥

इस आज्ञा से स्पष्ट यह भाव प्रकट होते हैं (१) यदि कोई श्राद्ध को करे तो अन्नादि में से किसी एक अथवा बहुत पदार्थों को जैसे कि प्राप्त हो सकें पितृश्राद्ध की सामग्री जानो, ध्यान इस बात का साथ ही साथ रखना आवश्यक प्रतीत होता है कि यह सर्वपदार्थ जो इस श्लोक ने वर्णन किये हैं वह सामान्य भक्ष्य पदार्थ हैं अर्थात् मनुष्यादि जिन को नित्यप्रति खाते हैं उन्हीं द्वारा श्राध भी किया जाना चाहिये और किया जाता है तथा किया भी जा सक्ता है ॥

(२) दूसरी यह आज्ञा है कि श्राद्ध कर्म नित्यप्रति करना चाहिये न कि वर्ष में १० दश अथवा पन्द्रह दिन के लिये, इस प्रकार की कोई आज्ञा इन श्लोकों से प्रतीत नहीं होती ॥ इस से पूर्व भी नित्य श्राद्ध पञ्चमहायज्ञों में विधान किया है ।

तासां क्रमेण सर्वाषां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् २ । ६९

इस से पूर्व श्लोक में जो नित्य पांच ही प्रकार के पाप वर्णन किये गये हैं उनकी निवृत्ति के लिये नित्य पाञ्चमहायज्ञों को करना उचित है, टीकाकार भी इस को इसी प्रकार वर्णन करते हैं "प्रत्यहमित्यभिधानात् प्रतिदिनं तत्पापक्षयस्यापेक्षितत्वात्संध्यावन्दनादिवन्नित्यत्वमपिनविरुध्यते ॥"

कि सन्ध्यादि की भांति शेष पितृयज्ञादिकों का भी नित्य ही विधान होने से विरोध नहीं है अर्थात् नित्य ही इष्ट है ॥ अब केवल इस बात का निश्चय करना आवश्यक है कि पितृशब्द के अर्थ क्या हैं जिन को मनु आदि स्मृतिकारों ने वर्णन किया है मेरे अनुभवानुकूल स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिकप्रयोगों का प्रचार नष्ट होने से कुछ के कुछ अर्थ लोक में प्रचलित हो गए हैं जिस से पुराणादि में पितृलोक एक इस लोक से पृथक् देश विशेष माना गया है यह उन पुराणों का अथवा तदनुकूल स्मृतियों का काम है कि वह इस बात का निश्चय करें कि वह देश विशेष कहां है किस तारा अथवा ग्रह में है अथवा चन्द्रादि लोक ही उन का निवासस्थान है। किस प्रकार के उन के शरीर हैं, वह वहां क्या करते हैं इत्यादि प्रश्न हैं जो कि निश्चय करने आवश्यक हैं।

पितृयज्ञ की सामग्री वर्णन करते हुए कहीं पर भी किसी ऐसी वस्तु का वर्णन नहीं किया गया जो कि मनुष्यों का आहार न हो जिस को मैं एक श्लोक के प्रमाण द्वारा प्रकट कर चुका हूं। इस बात को निश्चय करना विद्वानों का काम है कि क्या अन्नादि, जल, दुग्ध, फलमूल जो पितृयज्ञ की सामग्री वर्णन की गयी है यदि वही पितृगण के तर्पण कारण हैं तो उन के भक्षक पितृगण मनुष्य सन्तान के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सक्ते अर्थात् वह मनुष्य सन्तान ही हैं और यही भाव स्मृतिकारने भी वर्णन किया है जिस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य ही पितृगण है, यह कुछ काल

पश्चात् निश्चय होगा कि वह पितृगण हम ही लोगों में से है या कोई और जाति अथवा व्यक्ति है, और कि वह इसी लोक के वासी हैं जहां कि हम लोग रहते हैं अथवा किसी देश विशेष के जिस को कोई पौराणिक भी नहीं बतला सक्ता कि वह लोक कहां है किस प्रकार का है और उस का भूगोल वृतान्त किस प्रकार ज्ञात हो सक्ता है जैसे कि हमारी पृथिवी का प्रत्येक वृतान्त ज्ञात हो सक्ता है और असंख्यात पुरुष स्त्रियें जानती भी हैं। पितृयज्ञ प्रकरण में मनुस्मृति में भी लिखा है कि वह पितर किस २ गुण से विभूषित होने आवश्यक हैं:—

अक्रोधनाः शौच पराः सततं ब्रह्मचारिणः
न्यस्त शस्त्र महा भागाः पितरः पूर्वदेवताः
३-१९२ मनुः

क्रोध रहिता, वहिः शौचं मृद्वारिभ्यामन्तःशौचं राग द्वेषादि त्यागस्तद्युक्ताः सर्वदा स्त्रीसंयोगादि शून्याः त्यक्त युद्धाः दयाद्यष्टगुण योगो महाभाग ता तद्वन्तः देवानाम् पूर्व रूपाः पितरः सन्तीत्यर्थः ॥

अर्थात् क्रोध जिन पुरुषों ने छोड़ दिया है और जो जल मट्टी आदि द्वारा वाह्य शुद्धि और राग द्वेषादि के त्याग से अन्तःकरण की शुद्धि से सम्पन्न हैं और जो सर्वथा स्त्री संयोगादि भोग से विरक्त हैं और युद्ध में शस्त्रादि चलाने को जो त्याग चुके हैं अर्थात् युद्ध करने की प्रवृति जिन से दूर हो चुकी है, दया आदिआठ गुणों से जो युक्त हैं और जो देवताओं के पूर्व रूप हैं वह पितर कहाते हैं ॥

अब आप बिचार सक्ते हैं कि ऊपरोक्तगुण किनर में हो सक्ते हैं मेरे अनुभव में तो केवल मनुष्यजाति ही एक ऐसी जाति है जिस में यह सर्वगुण सम्पूर्णतया घट सक्ते हैं यद्यपि पुराणों में देवता जाति एकभिन्न मानी गई है परन्तु उन के भी कथनानुसार वह पितृगण देवतागण से सम्पूर्णतया भिन्न हैं और न ही ऊपरोक्त गुण देवताओं में किसी पुराण वाले ने भी माने हैं और उन में यह गुण सम्भावित भी नहीं हैं। क्योंकि आगे के श्लोकों में पितरों को किन्हीं ऋषियों का पुत्र माना है, वह लिखते हैं कि—

मनोर्हैरण्य गर्भस्य ये मरीच्यादय सुताः।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः॥
मनु ३-१९४

हिरण्यगर्भापत्यस्य मनोर्ये मरीच्यादयः पुत्राः पूर्वमुक्ताः मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ इत्यादिना तेषामृषीणां सर्वेषां सोमपादयः पितृगणा पुत्रा मन्वादिभिः स्मृताः ॥इत्यर्थः॥ अर्थात्

हिरण्यगर्भ के पुत्र मनु के जो मरीचि, अत्रि, अङ्गिरसादि हुए थे उन ऋषियों के पुत्र सोमपादि पितृगण कहलाए, यह मन्वादि स्मृतिकारों का सिद्धान्त है॥

अब बिचार यह है कि संपूर्ण पुराणों की छानबीन करने वाले भी इस बातमें सहमत हैं कि ऋषिलोग अस्मदादि शरीर धारी ही थे, अद्यपर्य्यन्त ऋषियों के पुत्रों को कवि लोगों ने भी यही मनुष्य शरीर दिया है" इस से सन्देह भी नहीं रहता कि पितृगण के भी अस्मदादि पुरुषों के समान

ही शरीर थे अतएव निश्चय यही है कि मनुष्य जाति ही में से पितृगण थे जिन को मन्वादि स्मृतिकारों ने वर्णन किया है" ।

इस निश्चय करने के पश्चात् यह जानना अत्यावशक प्रतीत होता है कि वेदादि सत्यशास्त्रों में जो सोमपा अग्निष्वात्तादि शब्द आते हैं उन से क्या तात्पर्य्य है, क्या यह सब गुणवाची हैं अथवा व्यक्ति वाची हैं जैसे मनुष्य शब्द गुणवाची भी हैं और जाति वाची भी कहते हैं अर्थात् मनुष्य शब्द के बोलते ही कुछ विशेषर गुणों का बोध होजाता है जिन से अनेक व्यक्तियों को जो कि एक ही प्रकार के विशेष गुण रखती हैं दूसरे पशु आदि शब्द के अर्थों से भिन्न कर देते हैं परन्तु जब हम सोमदत्त शब्द बोलते हैं तो मनुष्य शब्दार्थ जो एक विशेष जाती है जिसको समुदायरूप से वर्णन किया गया था अब वह किसी विशेष व्यक्ति को जिस का नाम सोमदत्त है ग्रहण कराता है वैसे ही आज कल जिस प्रकार शास्त्री आदि पद प्रदान किये जाते हैं क्या सोमपा आदि भी पद थे, अथवा सोमपा किसी व्यक्ति विशेष को वर्णन करते थे। यह विचार अत्यावश्यक है और मेरा यह अनुभव है कि यह सर्व शब्द गुणवाची हैं जैसे कि ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्य्यु आदि पद हैं इसी प्रकार सोमपा आदि शब्द भी पद ही हैं जो कि प्रत्येक पुरुष प्रत्येक काल में तत्तद्गुणों के धारण करने से प्राप्त कर सक्ता है और एक और कारण भी है कि इस प्रकार एक पुरुष के चार पुत्र एक ही पद को धारण भी कर सक्ते हैं परन्तु एक नाम को कदापि नहीं

रखते लोक में इसका कोई उदाहरण नहीं है अतएव लोक विरुद्ध होने से एक पुरुष के अनेक पुत्र एक नाम धारी नहीं हो सक्ते। अब चूंकि स्मृति आदि में ऐसा दिखलाई देता है अतएव वह पदवी ही है यही निश्चय होता है। दूसरा कारण यह भी है कि यह शब्द वेद में भी आते हैं और वेद में केवल यौगिक और योगरूढी शब्दों के प्रयोग होने से भी किसी व्यक्तिविशेष वाची वह शब्द कदापि नहीं हो सक्ते। अस्तु मनुस्मृति में ऋषियों के पुत्रों को पितृगण स्वीकार करते हुए उनके नामों का भी वर्णन किया है और यह वही नाम हैं जिनका पितृयज्ञ विषयक वेदमन्त्रों में प्रायः करके वर्णन आता है॥

विराट् सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोक विश्रुताः॥
मनु० ३। १९५॥

विराट् सुताः सोमसदोनाम साध्यानां पितरः अग्निष्वात्ता मरीचेः पुत्रा लोकविख्याता देवानां पितरः॥

यह टीकाकार लिखते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि विराट् के पुत्र सोमसद नाम वाले साध्यों के पितर कहलाये और मरीचि के पुत्र अग्निष्वात्ता नाम धारी जिनको सब लोग अच्छे प्रकार से जानते हैं देवों के पितर बने। इसी प्रकार—

दैत्य दानव यक्षाणां गन्धर्वोरग रक्षसाम्।
सुपर्ण किन्नराणां च स्मृता बर्हिषदो द्विजाः॥
मनु० ३। १९६॥

दैत्यादीनां प्रथमाध्यायोदित भेदानांअत्रि पुत्रा वर्हिषदोनाम पितरः स्मृताः ॥

दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, उरग, राक्षस, सुपर्ण, किन्नर जो कि मनुष्यजाति अन्तरगत तत्तद्गुण विशिष्ट जातिएं हैं और उस समय थीं उनके अत्रि के पुत्र वर्हिषद नाम वाले पितर बने ।

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपानाम्शूद्राणां तु सुकालिनः ॥
३ । १९७ ॥

इसी प्रकार सोमपा नाम वाले विप्रों के और हविर्भुज नाम वाले क्षत्रियों के और आज्यपा नामधारी वैश्यों के और सुकालि शूद्रों के पितर कहलाये ॥

यह चारों पितर किस २ के पुत्र थे इसको अगले श्लोक में वर्णन किया गया है ।

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्यसुकालिनः ।
३ । १९८ ॥

कवि अर्थात् भृगु के पुत्र सोमपा, हविष्मन्त अर्थात् हविर्भुजनाम वाले अङ्गिरस् के पुत्र, आज्यपा नामधारी पुलस्त्य के पुत्र और सुकालि नामक वसिष्ठ के पुत्र थे ॥

अग्नि दग्धानग्निदग्धान्काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेवनिर्दिशेत ॥
३ । १९९ ॥

इस श्लोक में एक प्रकार का उपसंहार किया गया है कि अग्निदग्धा, अनग्निदग्धा, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्ता सौम्याख्य, पितरों को ब्राह्मणों के ही पितर जानो ॥

इतने प्रमाणों के देने का तात्पर्य्य केवल यह है कि स्मृतिकार अग्निष्वात्तादि शब्दों के क्या अर्थ लेते हैं, अब अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि यह सब शब्द गुण वाची हैं और यही कारण है कि अग्निष्वात्तादि सब शब्द बहुवचन में प्रयोग किये गये हैं नहीं तो अनेकवाची होने के जो प्रशंसादि कारण हैं यहां उन का कोई स्थान प्रतीत नहीं होता और न ही किसी टीकाकार ने इस से भिन्न अपना विचार अद्यपर्यन्त प्रकट किया है किंबहुना। पं० ज्वालादत्त जी ने भी किसी और प्रकार से इन श्लोकों के लगाने का साहस नहीं किया जिस से स्पष्ट विदित होता है कि नवीन सनातन धर्म्मावलम्बी पुरुषों को भी यही इष्ट प्रतीत होता है। प्रश्न केवल यह है कि यदि सर्व पौराणिक लोक में भी अग्निष्वात्तादि शब्दवाची ऋषियों की सन्तान थे और इस में भी सन्देह नहीं कि यह शब्द वेद में भी आते हैं तो विचारना यह है कि वेद में भी इन शब्दों के यही अर्थ किये जावें या किन्हीं और अर्थों के बोधक माने जावें ॥

यदि यही अर्थ लिये जावें तो क्या अग्निष्वात्तादि शब्दों से अत्रि आदि ऋषियों के पुत्र माने जावें या शब्दार्थ स्वीकार किये जावें ॥

ऋषि सन्तानवाची तो कदापि हो नहीं सकते क्योंकि

वेद नित्य हैं और विराट् मनु जी के पिता के समय में भी यह शब्द वेद मन्त्रों में वैसे ही उपस्थित थे जैसे कि इस समय उन में एक मात्रा का भी भिन्न भेद नहीं होगा और न ही हुआ, तो प्रश्न यह है कि जब मनु जी ने इन वेद मन्त्रों को गुरु से पढ़ा था तो इन २ मन्त्रों के क्या २ अर्थ किये होंगे? क्योंकि उस समय मनु जी के पोते अग्निष्वात्तादि तो नहीं थे और न होने ही सम्भव हैं, अतएव स्पष्ट सिद्ध है कि मनु जी के समय में उन अग्निष्वातादि वेद प्रत्युक्त शब्दों के अवश्य कुछ और अर्थ होंगे जिन को जानते हुए ऋषियों ने अपनी २ सन्तान के तत्तद् बोधक वह २ नाम रक्खे इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं हो सक्ता ॥

दूसरा अत्यावश्यक यह निश्चय करना है कि यह अग्निष्वात्तादिनाम ऋषि पुत्रों के जीते२ रक्खे गये थे अथवा मरने के पश्चात्, यदि जीते२ यह नाम उन २ व्यक्तिविशेष ने प्राप्त किये तो इन शब्दों के वह २ अर्थ कदापि नहीं हो सकते जो कि आज कल के पण्डित लोग कर रहे हैं और जिस में से एतपितरोद्देशक श्राद्ध की विधि निकाली गयी और निकाली जाती है, उदाहरण के लिये प्रार्थना है कि अग्निष्वात्ता शब्द ही ले लीजियेगा, क्योंकि यही थोड़े से शब्द हैं जिन को पं० ज्वालादत्तादि लेकर मनमानी गाथाएँ जोड़ते चले जाते हैं, शोक यह है कि क्यों यह नहीं विचारा जाता कि एक ही प्रकरण में मनु के श्लोक लिखते हुए भी वेदमन्त्रों के अर्थ करते समय यत्किंचित् भी आत्मा की साक्षी नहीं लेते और इस शब्द

के यही अर्थ करते हैं कि जो अग्नि में जलाए गये और ऋषि दयानन्द जी के अर्थों पर मनमाने उपहास करते हुए बस नहीं करते। प्रश्न यह है कि यदि अग्निष्वात्ता के यही अर्थ स्वीकार करने हैं तो मरण के पश्चात् ही तो यह नाम हो सक्ता, पूर्व तो कदापि नहीं हो सक्ता है। फिर मरीचि के पुत्र का नाम अग्निष्वात्ता किस प्रकार से हो सक्ता है क्या उन का नाम भी मरने के पश्चात् रक्खा गया था जिसका कोई पण्डित आज पर्यन्त कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं दे सका, विशेष करके उस अवस्था में जब कि सर्व पुराणवादी निश्चयात्मक यह मानते हैं कि वह मरे नहीं जब यह जिन का नाम अग्निष्वात्तादि था वह मरे ही नहीं तो बिना मरे अग्नि में दाह कैसे हो सक्ते हैं तो फिर निश्चय उन के मतानुसार भी यही सिद्ध होता है कि इन अर्थों के वाची यह शब्द कदापि नहीं हो सके, कोई और अर्थ अवश्य मानने पड़ेंगे और यह वही अर्थ हैं जिन को ऋषि दयानन्दजी ने स्वीकार किया है इस प्रकार विचार करने से लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहता॥

विचार प्रस्तुत अब यह है कि पितरों के शरीर प्राणात्मक केवल सूक्ष्म रूप ही हैं जिन पर पं० ज्वालादत्तजी अधिकतया बल दिखाते और प्रत्येक बात में इसी बात को प्रकट करते हैं कि पितरों के शरीर वायुरूप हैं इसी कारण वह आकाशादि में रहते हैं मैंने प्रथम ही मनुस्मृति आदि के प्रमाणों से उन के भोज्यादि द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है कि ऐसे२ भोज्य पदार्थ मनुष्य देह से अतिरिक्त

कोई नहीं खा सक्ता, अस्तु यदि पं० ज्वालादत्तजी का कथन प्रमाण माना जावे कि ब्राह्मणों के द्वारा वह खाते हैं, और वह स्वयं भोजन नहीं करते जो कि युक्ति और लोक विरुद्ध है। अस्तु, परन्तु यह दर्शाया जाना अत्यावश्यक है कि क्या मनुष्य जाति विशिष्ट ऋषियों की सन्तान वायव्य शरीरधारी हो सक्ती है और इस में कोई युक्ति और प्रमाण दिया जा सक्ता है यदि नहीं तो लोक विरुद्ध होने से उदाहरणाभावात् अनुमान भी नहीं बन सक्ता अतएव यह सब कल्पना मात्र के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सक्ता कि मनुष्य-जाति की सन्तान पितृगण अस्मदादि शरीरों से अतिरिक्त वायव्य शरीर धारी हों ॥

दूसरा विचार यह है कि पं० ज्वालादत्तजी ने और सर्व प्रमाणार्थ मनुजी के श्लोक लिखे हैं परन्तु वह श्लोक क्यों नहीं दिया गया जिस में पितृगण के पुत्र और पौत्रों का भी वर्णन आता है। अस्तु हमें इस झगड़े में नहीं पड़ना है कि क्या पितृगण के पुत्र पौत्र भी स्व २ पिता के समान शरीर धारी अदृष्टरूपवाले हैं अथवा नहीं हम को तो केवल शब्द प्रमाण को ही मुख्यतया स्वीकार करके अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करना है ॥

मनुस्मृति में जहां पितरों को दूसरे ऋषियों की सन्तान लिखा गया है वहां उन के भी पुत्र और पौत्रों का वर्णन कियागया है वह यह है कि—

य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परि कीर्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्र पौत्र मनन्तकम् ॥ ३।२०० ॥

य एते प्रधानभूताः पितृगणा उक्तास्तेषामपीह ज-
गति पुत्र पौत्रा अनन्ता विज्ञेयाः ॥

जो इस प्रकार से मुख्य मुख्य पितृगणों को वर्णन कि-
या गया है उन के भी इस जगत् में अनेक पुत्र. पोत्रों को
जानो ॥

कृपाकर यदि पं० उत्रोलादत्त जी इस शब्द को जिस के
अर्थ टीकाकार ने भी इस जगत् के किये हैं छोड़ न देते तो
फिर उन को किसी और लोक में जाने का साहस न हो
सक्ता । प्रश्न यह है कि जिन पितरों के पुत्र और पौत्र इसी ज-
गत में थे इस श्लोक से विदित होता है और जिन के
पिता प्रपिता तो ऋषिस्वीकृत ही हैं तो फिर उन को वायु
रूपवाले किसी और लोक के वासी बनाना कहां तक ठीक
है विद्वान् लोग ही जान सक्ते हैं, अद्यपर्य्यन्त लोक में
कोई एक० उदाहरण ऐसी जाति विशेष का अथवा पुरुष
विशेष का नहीं देखा वा सुना गया जो स्वयं तो किसी पु-
रुष विशेष का पुत्र हो और उस के भी पुत्र पौत्र इस लोक
के वासी हों और आप किसी और लोक का वासी माना
जावे, अवश्य मानना पड़ेगा कि वह पितर इसी लोक के
वासी थे ॥

प्रश्न यह है कि एतत्काल विशिष्ट जो हम लोग पितृ-
यज्ञ को नित्य कर्म कर्तव्य मानते हैं वह लोग पितृयज्ञ कि-
न की सेवा करें, इस में मनुस्मृतिकार पितृयज्ञ प्रकरण में
सम्पूर्णतया चुप हैं और कुछ वर्णन नहीं करते, और जो
नवीन पण्डित लोग भी खिचखिचाकर कुछ अर्थ करते भीहैं

तो उस स्थान में उपरोक्त पितरों के अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं कर सक्ते, पं० ज्वालादत्त जी ने जो इस प्रकार का भाव प्रकट किया है कि जो हम लोगों के पितादि जिस २ गण में जा मिलते हैं उस २ नामधारी वह भी पितर हो जाते हैं, यह भाव पण्डित जी ने कहां से लिया है जिस के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता सनातनधर्मी पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वह इस विषय में कोई शब्द प्रमाण देवें अथवा अपने कथन को किसी और प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध करें हमें कुछ शब्द प्रमाण पर ही आग्रह नहीं है ॥

शोक का स्थान है कि मनुस्मृत्यादि ग्रन्थों में किसी स्त्री को पितृगण में नहीं वर्णन किया इस कारण स्त्रियों का तो कोई गण है ही नहीं, जिन में हमारी मातामहादि जाकर उस २ गण में प्रवेश कर सकें जहां से हम उन को बुला सकें परन्तु माता का अधिकार छीनने के लिये तो पं० ज्वालादत्त जी भी तैयार कदापि नहीं होंगे, इस कारण भी यह भाव मिथ्या ही प्रतीत होता है प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन पितृगणों में कौन तो पिता है और कौन पितामहा और कौन प्रपितामहा कहाते हैं जिस का कोई प्रमाण इन श्लोकों में नहीं मिलता यदि पिता को ही केवल बुलाना हो तो किस गण में अन्वेषण करना चाहिये और केवल पितामहा के बुलाने में किसगण का आवाहन करना आवश्यक है इत्यादि प्रश्नों का उत्तर दाता प्रमाण द्वारा यदि निश्चय करेगा तो हम उस पर विशेष विचार प्रकट करने को उद्यत होंगे ॥ हां यदि—

वसून्वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पिता महान् ।
प्रपिता महांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषासनातनी ॥ ३

इस श्लोक के अर्थों के सहारे पिता, पितामह और प्रपितमह को मानना है जिसको स्मृतिकार सनातन श्रुति मानते हैं तो आप को मृतपितरोद्देशक श्राद्ध त्यागना ही पड़ेगा क्योंकि छान्दोगादि ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यह तीनों नाम ब्रह्मचारियों के हैं जो कि जीवत वर्णित हैं और यदि देवतावाची लेना है तो शतपथ के अनुसार सब जड़ ही है तो पितरों को भी जड़ मानना पड़ेगा जो कि सनातन धर्मियों को कदापि अभीष्ट नहीं है दोनों प्रकार से मृतकश्राद्ध सिद्ध न हो सकेगा टीकाकार को तो देवता ही इष्ट हैं और पं० ज्वालादत्त जी ने भी देवता वाची शब्द ही वर्णन किया है परन्तु न जाने इस श्लोक के देते समय वह सब भाव भूल गया होगा कि पञ्चयज्ञों में पितृयज्ञ देवयज्ञ से भिन्न है और सत्यार्थप्रकाश पर मनमाना लाञ्छन देते समय क्यों पितरों को देवताओं से पृथक किया था, यह पं० जी भूल गये कि स्वयं ही श्लोक को प्रस्तुत करके अपने मुख से अपना खण्डन स्वीकार करना पड़ेगा परन्तु बात सच्ची है कि 'झूठे को स्मरण नहीं रहता' यह लोक न्याय आप पर भी ठीक घट जाता है। परन्तु पं० ज्वालादत्तजी का क्या दोष है, सायणाचार्य्य जी भी वेद का भाष्य करते समय कभी नहीं ध्यान रखते कि पितृयज्ञप्रकरण में क्या २ ऊटपटांग सब के सब बीच में ही दिखला जाते हैं विशेष तो वेदार्थ विषय में दिखलाऊंगा यहां तो केवल इतना ही निवेदन

करना है कि पुराण मतानुयायी पुरुषों पर कदापि कोई दोष आही नहीं सक्ता क्योंकि उनका सिद्धान्त अनगणित पुराणों पर निर्भर है एक श्लोक के अर्थ एक पुराण के अनुकूल कर दूसरे श्लोक के दूसरे पुराण के अनुकूल करने में पण्डितों ने क्या पाप किया, चाहे वह एक दूसरे के प्रतियोगी ही क्यों न हों, क्योंकि उन बेचारों को जन्म से ही केवल यही सिखलाया गया है कि संस्कृत में लिखा हुआ सब कुछ प्रामाणिक है और फिर श्लोकों में तो कहना ही क्या ? जिनके आत्माओं ने मिट्टी पत्थर को इष्ट देव बनाने में शंका नहीं की उन से अक्षर पूजा को हटाना असम्भव नहीं तो और क्या है, उन के आत्मा में यह शंका भी नहीं होती कि संस्कृत अक्षरों में भी विरुद्ध सिद्धान्त हो सक्ता है, यदि बुद्ध को नास्तिक मानते हुए भी अवतार मानने के लिये सर्वथा उद्यत हैं तो क्यों, केवल इसलिये कि किसी व्यक्ति विशेष ने अनेक श्लोक बनाकर पुराण के अन्दर लिख दिये हैं अब किस की शक्ति कि उनको मिथ्या कह सके, शोक तो केवल यह है कि इस संस्कृत पद पूजाने आर्य्यावर्त्त को उस अन्धेकूप में डुबा दिया है कि जहां से निकलना उनके लिये असम्भव हो गया है यहां तक कि वेद को भी पुराणों के आधीन कर दिया है वेद मन्त्रों के अर्थों के जानने के लिये पुराणों के इतिहास को जानना अत्यावश्यक होगया है नहीं तो वेद मंत्रों के अर्थ ही नहीं हो सक्ते कहने का तात्पर्य्य केवल यह है कि पुराणों के विना वेद निरर्थक हैं अर्थात् पुराणों के आधीन वेद को मानने लग

गये हैं जो कि तत्त्व के सर्वथा प्रतिकूल हो गया है, जिस वेद को इतिहासादि गाथाओं से सम्पूर्णतया पृथक् मान ऋषियों का यह सिद्धान्त था कि वेद में तृण से लेकर ईश्वर पर्यन्त सर्व विद्याओं का भण्डार है, पौराणिक लोग विशेष करके पण्डित मानी उन्हीं ऋषियों के इतिहासों को वेद से प्रकट करते समय किंचित् भी लज्जित नहीं होते, प्रत्युत उलटे हम लोगों पर आक्षेप पर आक्षेप करने को सर्वदा प्रस्तुत रहते हैं अस्तु—

यह भी दिखलाना कुछ अनुचित नहीं होगा कि अग्विष्वात्तादि शब्दों का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में क्या किया है क्या है क्यावह ऋषि दयानन्द जी के अर्थों के विपरीत है:—

तत्ये सोमेनेजानाः ते पितरः सोमवन्तो ऽथये
दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदो
अथ ये ततो नान्यतरचन यानग्निरेव दहन्त-
स्वदयति ते पितरो ऽग्विष्वात्ता एत उ ते ये पितरः॥

शत० २-६।७॥

(तत्) वह (ये) जो (सोमेन) सोम के द्वारा (इजानाः) यज्ञ करने के स्वभाव वाले हैं अर्थात यज्ञ करते रहते हैं (ते) वह (पितरः) पितर (सोमवन्तः) सोमवन्त कहलाते हैं, (अथ) और (ये) जो (दत्तेन) दिये हुए (पक्वेन) पकाये हुए (लोकं) लोक अथवा देह को (जयन्ति) जीतते हैं (ते) वह (पितरः) पितर लोग (बर्हिषदो) बर्हिषद कहलाते हैं अर्थात् इस से स्पष्ट तो यही सिद्ध होता है कि दानादि

से जो देहादि इन्द्रियों को अथवा संसार से पार होते हैं वह बर्हिषद पितर कहलाते हैं एक तो वह पितर हैं जो (सोम उपलक्षण है सर्व वनस्पति का क्योंकि सोम को वनस्पति का राजा माना गया है) केवल वनस्पति की विद्या को जानते और उसी से उपकार लेने में तत्पर हैं और दूसरे वह पितर हैं जो पके हुए धान जौ, गोधूमादि पदार्थों के द्वारा संसार का उपकार करने वाले हैं अब तीसरे अग्निष्वाता हैं जिस पर अधिक विवाद है। जिससे पहले दोनों प्रकार के भी मृत ही माने जाते हैं नहीं तो उपरोक्त शब्दों में तो कोई ऐसा शब्द प्रतीत नहीं होता जिस के अर्थों में किसी प्रकार का विवाद हो सके और उससे मृतक की सम्भावना भी कोई कर सके परन्तु फिर भी जो जिसकी इच्छा हो अर्थ करे उसको कौन रोक सकता है! तीसरे–(अथ) और (ये) जो (ततो) उस से (नान्यतरच्चन) कोई भी नहीं अर्थात् पूर्वोक्त दोनों प्रकार के जो नहीं हैं (यान्) जिन को (अग्निरेव) अग्नि ही अर्थात् केवल अग्नि (दहन्) भस्म करता हुआ (स्वदयति) आनन्दयति आनन्द देता है (ते) वह (पितरः) पितर (अग्निष्वात्ताः) अग्निष्वात्ता कहलाते हैं (एत) यद (उ०) निश्चय करके (ते) वह (ये) जो (पितरः) पितर हैं अर्थात् यह वह पितर हैं जिनका व्याख्यान ऊपर किया जा रहा है" परन्तु आज कल पण्डित लोग इस के अर्थ यह करते हैं कि जिनको अग्नि जलाता हुवा स्वाद लेता है और तात्पर्य यह निकालते हैं कि जो अग्नि में जलाये गये हैं। वह पितर अग्निष्व-

त्ता कहलाते हैं। परन्तु मनुस्मृति के श्लोक को प्रमाण में देते हुए मैंने यह तो सिद्ध कर दिया था कि स्मृति से स्पष्ट विदित होता है कि स्मृतिकार अग्निष्वात्तादि शब्दों के वह अर्थ कदापि नहीं लेते थे जो कि आजकल के पण्डित लेते हैं स्मृतिकार ने तो ऋषि के पुत्रों का नाम अग्निष्वात्ता रक्खा था। अस्तु शतपथ के अर्थों से भी यह कदापि विदित नहीं होता है। प्रथम तो यह बात विचारणीय है कि स्वदयति पद के लाने की आवश्यक्ता ही क्या थी यदि जलाना ही तात्पर्य्य था, क्यों कि स्वादि धातु चेतन कर्तृक है अग्नि जो कि जड़ वस्तु है 'जलाते हुए स्वाद लेता है' कैसे निरर्थक प्रतीत होता है क्योंकि आस्वादन रसना का गुण है जो कि बिना चेतन के होना लोक विरुद्ध है अतएव उदाहरण के अभाव से अनुमान भी नहीं हो सक्ता। अतएव यह अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होते।

व्याकरण से भी यह अर्थ किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सक्ते क्योंकि 'स्वद धातु' भ्वादि गणी है या चुरादि गणी दोनों में स्वदयति रूप सिद्ध नहीं हो सक्ता, स्वादयति अथवा स्वदते अथवा स्वादयते रूप बन सक्ता है स्वदयति रूप कदापि नहीं बनता, अतएव सिद्ध है कि यह अर्थ कदापि ठीक नहीं, यदि छान्दस्त्वात् वृद्ध्यभाव माना जावे तो क्यों? यह शब्द तो बन सक्ता है हां उसके अर्थ और हो जावेंगे, स्वदनं स्वदः, स्वदं करोतीति स्वदयति, आनन्दयतीत्यर्थ, यदि कहा जावे कि अच् प्रत्यय करने से णिच की प्राप्ति नहीं हो सकती तो नहीं प्रातिपदिक से भी

णिच आसक्ता है "प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च" इस प्रमाण से किञ्चिन्मात्र भी बाधा नहीं पड़ सक्ती, दुर्जन तोष न्याय से यदि कथञ्चित वही अर्थ मान लिये जावें कि अग्नि स्वाद लेता है तो "णिचश्च" १ । ३ । ७४ इस सूत्र से आत्मने पद होना चाहिये, क्योंकि "णिजन्तात्मने पदं स्यात्कर्तृ गामिनी क्रियाफले" यदि क्रिया का फल कर्त्ता को प्राप्त होना हो तो णिजन्त धातु से आत्मने पद हो यदि अग्नि जलाकर स्वयं ही स्वाद लेता होता तो अवश्य आत्मने पद होना चाहिये था, अतएव परस्मैपद होने से दूसरे को ही आनन्द देना शास्त्र को इष्ट है और अचेतन कर्ता होने से भी यही स्पष्ट है।

वैयाकरण पुरुष प्रश्न कर सक्ते हैं कि "निगरणचलनार्थेभ्यश्च" १ । ३ । ८० इस सूत्र से आत्मनेपद का निषेध है अतएव दोष नहीं आसक्ता परन्तु उनको ध्यान रहे कि "धातु" की अनुवृति आती है अर्थात् निगरणार्थक धातुओं से और चलनार्थक धातुओं से परस्मैपद होता है, किन्तु स्वद शब्द धातु नहीं है प्रातिपदिक है जिसका इस सूत्र से किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, और अजन्त की धातु संज्ञा करने वाला भी कोई सूत्र नहीं है सनाद्यन्ता धातवः ३ । १ । ३२ इस प्रकरण में अच् प्रत्यय का विधान ही नही है, अतएव शतपथ के लक्षण के यह अर्थ हैं कि अग्नि अन्य पदार्थों को भस्म करता हुआ जिनको आनन्द देता है वह पितर अग्निष्वात्ता कहलाते हैं॥

यदि प्रकरण को देखा जावे तो पितरों के जलने ज-

लाने का गन्ध भी नहीं आता । वहां तो कुछ बात ही और प्रतीत होती है जिस को विद्वान् पदार्थवेत्ता ही जान सक्ते हैं अस्मदादि केवल शब्दार्थ के जानने वाले क्या जान सक्ते हैं कि उस के अन्दर क्या २ रस भरे पड़े हैं, यदि वैदिक व्याख्यानों को अच्छीप्रकार जानने के लिये केवल व्याकरण ही आवश्यक होता तो वेद के अङ्ग जो कि संख्या में ६ हैं उनके स्थान पर केवल एक व्याकरण को ही जान लेते, ज्योतिशशास्त्र को जानने के लिये यत्न सर्वथा निष्फल होना चाहिये था, कल्प जिस को जानने के लिये सर्व ओर से मौन व्रत दिखाई दे रहा है जिस के विषय तक के जानने के लिये विद्वान कान पर हाथ धरते हैं उन का क्या दोष है उन वेचारों को पता तो है ही नहीं कि उस में क्या लिखा है विना जाने क्या उत्तर दें कि कल्पशास्त्र में क्या लिखा है कोई कह देता है कि उस में संस्कारों का विषय है कोई कहदेता है कि उस में यज्ञों का विधान है कोई कुछ और कोई कुछ मन मानी जोड़ तोड़ लगा कर प्रश्न कर्त्ता का मुख बन्द कर देते हैं, तत्वतः विचारा जावे तो स्पष्ट विदित होता है कि कल्पशास्त्र यज्ञविधायक हैं अर्थात् पदार्थ विद्या के जानने और जनाने की जो क्रियादि और उन के साधन हैं उन को अच्छीप्रकार विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं जिनका इस समय एक भी पूर्ण ग्रन्थ नहीं मिलता है" और यही कारण है कि शतपथादि वेद व्याख्यान इतने कठिन हो रहे हैं कि हम लोग विना तत्तत् ज्ञान प्राप्त करने के केवल शब्द जाल को आश्रय करते हुए यदि जानने का अभिमान करें तो

केवल अभिमान मात्र ही है इसी कारण अनेक प्रकार की त्रुटियां रह जाती हैं। अस्तु

शतपथ में अलंकृतभाषा में वर्णन किया गया है कि देवताओं ने महाहविः के द्वारा वृत्रों को मारा जिस से देवता लोग विजयी हुए और वृत्र भागगये इत्यादि अलङ्कार से ऋतुओं को पितर वर्णन कियागया है और उन को ६ छः माना है, जिन को २ भागों में बांट कर फिर एक २ के तीन २ भाग किये गये हैं और प्रत्येक को एक २ ऋतु के नाम से पुकारा गया है और इस युद्धरूप सङ्ग्राम को पितृयज्ञ शब्द से वर्णन किया गया है, ब्राह्मण के शब्दों से आप को दिखला कर यथाशक्ति स्पष्ट करने का यत्न करूंगा। लिखा है:—

महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः। ते नोऽएव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तामथ यानेवैषा तस्मिन्त्संग्रामेऽघ्नंस्तान्पितृयज्ञेन समैरयन्त पितरो वै त ऽआसंस्तस्मात्पितृयज्ञो नाम॥ १॥ २। ६। १। १॥

(महाहविषा) बड़ी हवि के द्वारा (हवै) निश्चयेन निश्चय करके (देवा) विद्वान् लोगों ने अथवा सूर्य्य सम्बन्धी द्युतिमान् प्रकाशवान् किरणें (वृत्रम्) राक्षस मूर्ख, मूर्खता विशिष्ट पुरुष विशेष की अथवा मेघादि आवरण विशेष शीतादि मलावरण को (जघ्नुः) नाश करदिया अर्थात् दूर करदिया, (तेन) इसी कारण (उ, एव) से हि (व्यजयन्त) वह जीत गये, (या) जो (इयम्) यह (एषाम्) इनकी

(विजितिः) जीत है (ताम्) उस को (अथ) प्रारम्भ किया जाता है अर्थात् देवतालोगों ने क्या विजय से प्राप्त किया वह आगे वर्णन किया जावेगा (यान्) जिन को (एषाम्) इन के (तस्मिन्) उस (संग्रामे) युद्ध में (अघ्नन्) मारा था (तान्) उन को (पितृयज्ञेन) पितृयज्ञ के द्वारा (समैरयन्त) अच्छे प्रकार प्राप्त किया (प्रश्न किया गया है कि पितृयज्ञ से इस का क्या सम्बन्ध है ? उत्तर में (पितरो) (वै) निश्चय करके (ते) वह (आसन्) थे (तस्मात्) इसी कारण (पितृयज्ञो नाम) उसका नाम पितृयज्ञ है ॥

यह कठिनता पूर्वक ही बुद्धिगत हो सक्ता है कि वह पितर कैसे थे जिस कारण पितृयज्ञ नाम दिया गया, क्योंकि इस बात का वर्णन इसी काण्ड में प्रथम कर आये हैं जिसका संकेत मात्र यहां पर वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार से हैं कि पितरों को देवताओं का पूर्वरूप माना गया है जिस प्रकार ज्ञानविशिष्ट कर्मकाण्ड के पश्चात विज्ञान की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार ज्ञानविशिष्ट कर्म करने वाले पितर कहलाते हैं और विज्ञान विशिष्ट देवता नामधारी होते हैं। इसी प्रकार वर्ष को भी दो भागों में बांटा गया है जिस से ३ तीन ऋतुओं का नाम देवता रक्खा है और शेष तीन ऋतुओं का नाम पितर है, जिसका संकेत यहां पर ऊपर लिखा गया है शास्त्र के शब्दों में इस प्रकार है ॥

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः ते देवा ऋतवः
शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो, य एवापूर्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरो इत्यादि ॥

वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा देव ऋतुएं कहलाती हैं और शरद्, हेमन्त और शिशिर पितर ऋतुएं हैं, इसी प्रकार एक मास के दो भाग किये गये हैं जो मास का अर्ध भाग पूर्ण किया जाता है वह देव और जो क्षय को प्राप्त होता है वह पितृ अर्ध मास है इसी प्रकार एक दिन के भी, जिस में रात्रि और दिन सम्मिलित हैं और तत्पश्चात् प्रातःकाल से सायंकाल में भी देवतात्व और पितृत्व का लक्षण घटाया गया है ॥

इस को तत्त्व दृष्टि से विचार करने से कई एक विचार जो शङ्काओं को उत्पन्न करने वालेहैं इसी एक ही शास्त्र के वाक्य से सिद्ध हो जाते हैं। इस समय पौराणिक अन्धकार से आच्छादित संस्कारों को आश्रय लेते हुए पुरुष वैदिक मन्तव्यों पर भी अनेक प्रकार के आक्षेप करने लग जाते हैं जिनका मूल केवल गरुड़ पुराण की गाथाएं हैं, पुराण के मानने वाले अपने प्रत्येक संस्कारादि व्यवहारों में उसी भाव को प्रकट करते और मानते हैं कि पितर लोग मृत्यु के पश्चात् दक्षिण को जाते हैं वहां यम के दूतों से अनेक दुःखादिपाते हुए वैतरणी नदी आदि से पार जाने के साधनों को अन्वेषण करते हैं इत्यादि अनेक गाथाएं पुराण में लिखी गईं हैं जिनका सच्चा अथवा झूठा सिद्ध करना उन्हीं का काम है परन्तु दक्षिण मार्ग में जाने आदि का मूल केवल इस शतपथ के प्रमाण से सिद्ध है आप को यह तो स्पष्ट विदित होगया होगा कि सूर्य्य जिन दिनों में मध्य रेखा से उत्तर की ओर होता उन्हीं को देवता ऋतुओं से वर्णन किया गया है और मध्य रेखा से दक्षिण की ओर

जाने के समय को पितृ ऋतुएं कहा गया है कारण केवल यह है कि वसन्त से वर्षा ऋतु पर्य्यन्त उष्णता की अधिकता होती है जिस से पूर्णता का भाव उत्पन्न होता है और शरत् से शिशर पर्य्यन्त उष्णता की क्षीणता होती है इसी कारण उनका हनन करना भी लिखा है:—

जो विद्वान् पुरुष वनस्पति के गुणों को पूर्णता और क्षीणता पर घटाते हैं उनको भी पता लग जावेगा कि शिशिर ऋतु में शीत काल के कारण जीर्ण अवस्था प्राप्त पत्रादि सम्पूर्णतया झड़ जाते हैं और पुनः वसन्त ऋतु के आरम्भ से ही न्यूतन अङ्कुरादि प्रफुल्लित होने लग जाते हैं न केवल वनस्पति की ही यह अवस्था होती है किन्तु मनुष्यादिकों की भी यही गति होती है, वसन्त के आरम्भ से ही रुधिर का चक्र शरीर में शीघ्रता पूर्वक भ्रमण करने लगता है, जिस पर संस्कृतादि के कवियों ने अनेक रङ्ग चढ़ाए हैं और पुराण वालों ने तो एक त्योहार ही रख दिया है जिसको होली का उत्सव कहा जाता है, वेद में भी वसन्त को ही ऋतुओं का अधिपति माना है और वर्ष का आरम्भ भी वसन्त से ही होता है अतएव जिस प्रकार मनुष्य देह में उन्नति की समाप्ति से ही अवनति आरम्भ हो जाती है और जीर्णता के पश्चात् पुनर्जन्म का आरम्भ हो जाता है वैसे ही देवता और पितृशब्दों से उत्तरायण और दक्षिणायण का भी बोध होता है जिस प्रकार चन्द्र पूर्णचक्र समाप्त करता है जो कि उसका पृथिवी के साथ मिलकर सूर्य्य की परिधिपर है ठीक उसी प्रकार चन्द्र के

पृथिवी की चारों ओर घूमने में भी दो पक्ष होते हैं, जिन में एक पूर्णता को बोधन कराता है और दूसरा चन्द्र की क्षीणता को, जिन को शुक्ल और कृष्ण पक्ष भी कहते हैं, जिस पक्ष में पूर्णता का बोध होता है उस को देवपक्ष कहते हैं और क्षीण के बोधक को पितृपक्ष कहते हैं, इसी भाव के गौरव को न विचारते हुए पुरुषों ने कृष्ण पक्ष में ही १५ दिन श्राद्धों के रखदिये हैं जिन के लिये किसी गृह्य-सूत्र में भी प्रमाण नहीं मिलता है ॥

इसी भाव को कि जीतने वाले कौन हैं और जिनको पुनः उत्पन्न किया गया वह क्या हैं उस अलंकृत वाक्य को दूसरी कण्डिका में स्पष्ट करते हैं ॥ कि—

तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः ।
एते ते ये व्यजयन्त शरद्धेमन्तः शिशिरस्तऽ-
उ ते यान् पुनः समैरयन्त ॥ २ ॥ २ । ६ । १ । २

(तद्) वह (वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः) वसन्तऋतु, ग्रीष्मऋतु, और वर्षाऋतु हैं (एते) यह (ते) वह (ये) जो (व्यजयन्त) जीतेगए (शरद्धेमन्तः शिशिरः) वह शरत्ऋतु, हेमन्तऋतु और शिशिरऋतु हैं (ते) वह (उ) निश्चय करके(ते) वही हैं (यान्) जिनको (पुनः) फिर (समैरयन्त) प्राप्त किया ॥

इस कण्डिका ने सम्पूर्ण तया मेरे पूर्वभाव को सिद्ध कर दिया कि वसन्तादि ऋतुओं के चले जाने पर भी वही प्रयत्न प्राप्त तथा जीती हुई शरदादि ऋतुएं फिर अपने चक्र

को धारण करती हैं ॥ इसी प्रकार यह चक्र वर्ष में समाप्त हो जाता है ॥ इस के पश्चात् ब्राह्मण ने अच्छे प्रकार से दर्शाया है कि प्रत्येक ऋतु में भिन्न २ अन्नादि (बपन) बोए जाते हैं और इस काल के चक्र को ६ भागों में विभक्त करते हुए (षड्कपालं परीडाशं) ६ भागों में बांटी हुई हवि ऐसा वर्णन किया है, और हवि शब्द के अर्थ भी यही हैं जिसको ऋषि दयानन्दजी अनेक स्थालों पर यजुर्वेदभाष्य में स्पष्ट रीति से वर्णन कर गये हैं, संक्षेप से यहां भी थोड़ा सा लिखना कुछ अनुचित नहीं होगा क्योंकि वेद मन्त्रों के अर्थार्थ इसको जानना आवश्यक है ॥

हविः=हूयते यत्तद्धविः होम योग्यं वस्तु वा

(उ । २ । १०८)

हू=दानादनयोः, आदाने चेत्येके प्रीणने ऽपीति भाष्यम् ॥ दानं चेह प्रक्षेपः ॥ स च वै धे=आधारे हविषश्चेति स्वभावाल्लभ्यते ॥

इसी कारण ऋषि दयानन्द जी ने (यजु० १९-७०) में स्पष्ट लिखा है कि "हविर्दातुमर्हम्" अर्थात् देने के योग्य पदार्थ और खाने के योग्य पदार्थों का नाम भी हवि है यह धातु के अर्थ से विदित होजाता, क्योंकि धातु के अर्थ ही दान देना और खाना है, जो दान देने के योग्य पदार्थ हो अथवा खाने के योग्य पदार्थ हो उस को हवि शब्द से पुकारा जाता है इसी से यज्ञ की सामग्री का नाम भी हवि है और अग्नि में डाला हुआ भी आज्यादि हविः कहलाता

है। जिस प्रकार भिन्न २ ऋतुओं में भिन्न २ पदार्थ उत्पन्न होते और काल चक्र में आकर विनाश को प्राप्त होते हैं ठीक इसी प्रकार भिन्न २ गुण विशिष्ट पितरों का श्राद्ध और तर्पण भिन्न २ पदार्थ से किया जाना शास्त्रानुसार है, जिस पितर के जो योग्य है उसको वैसे पदार्थ से आनन्दित करना ही श्राद्ध का तात्पर्य्य है। यही कारण है कि ऋतुओं के अलङ्कार से पितरों का बोध करायागया है। यह भी ज्ञात रहे कि प्रत्येक ऋतु का जो २ नाम सोमवन्तादि पदों से दिया गया है वह भी निरर्थक नहीं है परन्तु उनका विशेष २ ऋतु से विशेषर सम्बन्ध है जिनको जानना विद्वान् पुरुषों का काम है और जिन २ भावों को द्योतनार्थ शतपथ में लक्षण भी कर दिये हैं सोमवन्त ऋतु का ही नाम वसन्त है क्योंकि सोमादि लता विशेष जो कि सर्व वनस्पति का राजा माना गया है, और लक्षणा से साधारण वनस्पति का ग्रहण किया जाता है, विशेष कर उसी ऋतु में प्रादुर्भूत होती है, प्रत्येक वृक्ष फल फूलादि के अङ्कुर निकलने आरम्भ होजाते हैं जो कि ग्रीष्म ऋतु में परिपक्व अवस्था को प्राप्त करते हैं, जिसका दूसरा नाम बर्हिषद् रक्खा गया है जिसके शब्दार्थ से भी यही ज्ञात होता है जो कि शतपथ ने लक्षण किये हैं, क्योंकि इसी ऋतु में उत्तम २ अन्न पकते हैं और अनेक प्रकार के फलादि भी पक जाते हैं जिनसे ऋतुओं की शोभा होती है और यही कारण है कि बर्हिषद् पितरों का भोजनादि पक्व अन्नादि फल मूल वर्णन किया गया है परन्तु जिस ऋतु में यह दोनों न पाए

जावें वह अग्निष्वात्ता अर्थात् वर्षाऋतु कहलाती है अर्थात् वह अग्नि जो ग्रीष्मऋतु में विशेष कर उत्तेजित हुआ अपना प्रभाव दिखला कर आनन्दित करता है, वह जल बिन्दू जो ग्रीष्मऋतु में समुद्रादिकों से सूर्य्य किरण द्वारा आकाश मार्ग में गये थे वह फिर वर्षारूप होकर आनन्द का कारण होजाते हैं और साथ ही यह भी ज्ञात रहे कि जितना कष्ट उष्णता वर्षाऋतु में देती है उतना ग्रीष्म ऋतु में नहीं, यदि वर्षा के दिनों में एक दम वर्षा बन्द हो जावे तो वायु तत्काल अपनी गति रोक देता है, चारों ओर वायु के निश्चल होने से शरीर में अग्नि दहन क्रिया आरम्भ हो जाती है, रात्रि को निद्रा नहीं, दिन को भी कष्ट ही कष्ट प्रतीत होने लग जाता है, धनाढ्य पुरुष अनेक प्रकार के वायु चालक व्यजनों को बनाकर उस दहन से शान्ति की उपलब्धि करते हैं परन्तु वर्षा के होते ही वह सर्व कष्ट निवृत्त होकर सर्व प्रकार का आनन्द प्रतीत होने लग जाता है इसी कारण उसका नाम अग्निष्वात्ता रक्खा गया है और पितर भी उन २ गुणों से सम्पन्न होकर अग्निष्वात्ता कहलाते हैं। शोक इस बात का है कि नवीन पण्डित लोग इन अलङ्कारों पर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान न देते हुए अपनी मनमानी बेतुकी हांकते चले जाते हैं और कोई उन से नहीं पूछता कि जब इस प्रकरण में मृत का गन्धमात्र भी नहीं प्रतीत होता तो कौन से कारण हैं जो मृत पितरों की ओर आप के मनों को आकर्षित करते हैं क्या आप को कभी स्वप्न में भी ज्ञात हुआ है कि सोम के द्वारा

यज्ञ करने वाले मृत होते हैं क्या मृत पुरुष यज्ञ किया करते हैं यदि नहीं तो सोमवन्त पितर मृत कैसे माने गये, यदि कोई यह माने कि सोमवन्त और वर्हिषद् के लक्षणों से तो मृत नहीं प्रतीत होते परन्तु अग्निष्वात्त में कुछ २ गोलमाल है तो मैं पूछूंगा कि क्या एक वस्तु के ३ तीन भाग किये जाने पर वह किसी प्रकार परस्पर विप्रीत गुण धारी भी हो सक्ते हैं, यदि नहीं तो एक ही समुदाय के तीन भेद करके दो जीवित और एक मृत कैसे विद्वान् लोग स्वीकार करेंगे, प्रकरण के विपरीत अक्षरार्थ से भिन्न केवल अपने मन के संकल्पमात्र से यथार्थ अर्थ का बोध कदापि नहीं हो सक्ता अतएव निश्चय यही होता है कि शतपथ के शब्दार्थ से कहीं भी इस स्थल में मृतपितरोद्देशक यज्ञ का विधान नहीं पाया जाता प्रत्युत स्पष्टरीति से यही विदित होता है कि जीवित कर्मकाण्डी विद्वानों की यह पदवियां हैं, सत्वतः यह एक ही मनुष्य जाति के गुणान्तर भेदों के कारण भेद किये गये हैं इसी भाव को बृहदारण्यक उपनिषद् ने भी जो कि शतपथब्राह्मण ही है इस प्रकार वर्णन किया है कि मनुष्यों के ही यह भेद हैं। जो पुरुष भोगादि में रत रहते हैं वह मनुष्य कहलाते हैं और जो कर्म प्रधान पुरुष हैं वह पितर नाम से पुकारे जाते हैं जो विज्ञान से अपने जीवन को व्यतीत करते हैं वह देवता होते हैं यह तीनों भिन्न २ व्यक्ति के आत्मक गुणों के भेद से भेद हैं और यह सर्व भेद एक ही जन्म में प्रतीत हो जाते हैं कुछ जन्मान्तर की विशेष अपेक्षा नहीं है ॥

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकाना ँश्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशँसन्ति ॥ बृ० उ० १ । ५ । १६ ॥

जिस से स्पष्ट विदित होता है कि विद्या को भोग और कर्म से इस कारण विशेषता है कि विद्या ही के बल से मनुष्यपद से उन्नत हो कर देवता बन जाता है, यहां लोक शब्द से किसी देश विशेष से किञ्चन्मात्र भी प्रयोजन नहीं है, केवल शरीर से तात्पर्य्य है, गोपथब्राह्मण में भी लिखा है कि "पितृलोकः पितरः" अर्थात् पितरों का ही नाम पितृलोक है कोई और मनुष्य जाति से अतिरिक्त अन्य जाति नहीं और ना ही किसी अन्य देश का बोधक है। केवल व्यक्तिवाची यह लोक शब्द है क्या कोई विद्वान् भी इन प्रमाणों से मृत के अर्थ कर सक्ता है। कदापि नहीं ॥

इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी पितृयज्ञ जीवितपरक ही माना गया, केवल अनुमान द्वारा ही निश्चय नहीं किया गया प्रत्युत स्पष्ट शब्दों में भी यही भाव प्रकट किया गया है। जिस प्रकार शतपथ में शुक्ल और कृष्ण पक्षादि के अलङ्कार से वर्णन किया था ठीक उसी प्रकार गोपथ ने भी लिखा है, दुहराने की आवश्यक्ता न जान कर केवल इतना ही लिखना सम्यक् होगा कि गोपथ से वह कण्डिका केवल लिख दी जावे जिस में जीवित शब्द से शास्त्र ने प्रकट किया है ॥

अथ यदध्वर्युः पितृभ्यो निपृणाति, जीवानेवतत् पितॄननुमनुष्याः, पितरोऽनुप्रवहन्ति ॥ गोपथ० उत्तर० प्रपा० १, २५ ॥

अथ, यत् यस्मात्कारणात्, अध्वर्युः, यजुर्वेदवित् पितृयज्ञेन पितृभ्यो निपृणाति तर्पयति, तत्, अनुमनुष्याः, तेषाम् पितॄणामनुगामिनो मनुष्या जीवानेव, प्राणधारिणएव पितॄन् निपृणन्ति तर्पयन्ति इति शेषः, अनु पश्चात् पितरः प्रवहन्ति तान् उपदेशादिभिः प्रापयन्ति ॥

इस कण्डिका में इस बात को स्पष्ट किया है कि पूर्व जो ऋतुओं के द्वारा पितृयज्ञ को वर्णन किया है उस में और जो यजुर्वेद के जानने वाला पितृयज्ञ को करता है उस में क्या विशेषता है इस में दिखलाया गया है कि जब यजुर्वेद का जानने वाला कर्मकाण्डी विद्वान् पितृयज्ञ को पालन करता हुआ पितरों को तर्पण अर्थात् पालन पोषण करता है तो उस में पितरों के अनुगामी पुत्र पौत्रादि अथवा शिष्यादि सम्बन्धी जीवित साक्षात् प्राणधारी पितरों का ही पालन करते हैं जिस के पश्चात् पितर लोग सन्तुष्ट होते हुए उपदेशादि द्वारा कर्त्तव्य कर्मों का उन को बोध कराते हैं जिस से वह गृहस्थ के कार्यों को उत्तम रीति से करने योग्य होते हैं और सदैव अपने कर्त्तव्यादि को विस्मृत न करते हुए वेद की आज्ञानुसार सर्व व्यवहारों को करते रहते हैं जिस को ऋषि दयानन्दजी ने "आयन्तुनः पितरः" इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रकट किया है इस की विशेष व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में देखने से निश्चय हो जायगा ॥

इत्यादि प्रमाणों से यही बात निश्चय होती है कि सर्व-तन्त्र सिद्धान्त यही है कि जीवित पितरों का ही आवाहन कर के अन्न भोजन फल मूलादि तथा वस्त्रादि से उन का पोषण करते हुए उन से उपदेशादि द्वारा अपने जीवन उ-द्देश को समझें और उस पर कटिबद्ध हो कर अपने २ कर्त-व्य का पालन करने की योग्यता प्राप्त करें ॥

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब वेद में स्पष्टतया यमादि का वर्णन आता और वहां यम के दोनों कुत्तों को भी विशेष आकृति युक्त वर्णन किया है तो फिर हम किस प्रकार उस से विपरीत विचारें और जानें उनपर ऋषि दयानन्द जी का भाष्य मिलता नहीं, सायणाचार्य्य जी ने यमादि का ही अर्थ स्पष्ट किया है और यहां स्पष्ट शब्द भी इसी प्रकार के हैं। इस में सन्देह नहीं कि आ-र्य्य पण्डितों ने भी यथा तथा किसी२ मन्त्र का अर्थ लिखा है परन्तु पूर्णतया निश्चय नहीं होता, यावत्पर्य्यन्त सर्व म-न्त्रों के निर्णयार्थ क्रमशः अर्थ न किये जावें। पूर्णतया निश्चय नहीं हो सक्ता अतएव इस सम्पूर्ण प्रकरण का प्रकटा-र्थ विचार अत्यावश्यक है और जिस पर विद्वान् सज्जनों की सम्मति द्वारा और गुरु जनों की कृपा से मैं स्वबुद्धि और विद्या के अनुकूल उन सर्व मन्त्रों को क्रमशः अर्थ करके आशा करता हूं कि विद्वान् पुरुष अपनी २ सम्मति अवश्य इस विषय पर प्रकट करके अपने कृपापात्र को कृतकृत्य करेंगे ॥

इस में सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में भी यह मंत्र स्थान २

इत्यादि प्रमाणों से यही बात निश्चय होती है कि सर्व-तन्त्र सिद्धान्त यही है कि जीवित पितरों का ही आवाहन कर के अन्न भोजन फल मूलादि तथा वस्त्रादि से उन का पोषण करते हुए उन से उपदेशादि द्वारा अपने जीवन उ-द्देश को समझें और उस पर कटिबद्ध हो कर अपने २ कर्त-व्य का पालन करने की योग्यता प्राप्त करें ॥

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब वेद में स्पष्टतया यमादि का वर्णन आता और वहां यम के दोनों कुत्तों को भी विशेष आकृति युक्त वर्णन किया है तो फिर हम किस प्रकार उस से विपरीत विचारें और जानें उनपर ऋषि दयानन्द जी का भाष्य मिलता नहीं, सायणाचार्य्य जी ने यमादि का ही अर्थ स्पष्ट किया है और वहां स्पष्ट शब्द भी इसी प्रकार के हैं। इस में सन्देह नहीं कि आ-र्य्य पण्डितों ने भी यथा तथा किसी२ मन्त्र का अर्थ लिखा है परन्तु पूर्णतया निश्चय नहीं होता, यावत्पर्य्यन्त सर्व म-न्त्रों के निर्णयार्थ क्रमशः अर्थ न किये जावें। पूर्णतया निश्चय नहीं हो सक्ता अतएव इस सम्पूर्ण प्रकरण का प्रकटा-र्थ विचार अत्यावश्यक है और जिस पर विद्वान् सज्जनों की सम्मति द्वारा और गुरु जनों की कृपा से मैं स्वबुद्धि और विद्या के अनुकूल उन सर्व मन्त्रों को क्रमशः अर्थ करके आशा करता हूं कि विद्वान् पुरुष अपनी २ सम्मति अवश्य इस विषय पर प्रकट करके अपने कृपापात्र को कृतकृत्य करेंगे ॥

इस में सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में भी यह मंत्र स्थान २

पर आये हैं परन्तु अधिकतर अथर्ववेद में एक ही स्थल में आए हैं, अतएव अथर्ववेद से ही उन मन्त्रों को लिखकर अपना आशय प्रकट करने का विचार करता हूं—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्नि दूतो अरंकृतः ॥ १ ॥
अथर्ववेद का० १८ अनु २ सू० १ ॥

इस सूक्त में यम का विशेषतया वर्णन आता है अतएव यह जानना अतिशय आवश्यक है कि यम से यहां क्या तात्पर्य्य है क्योंकि यम शब्द के अनेकार्थ निरुक्तादि में माने गये हैं जिन की आवश्यकता स्थान २ पर होती है, मेरे अनुभवानुसार यम शब्द का अर्थ इस सूक्त में प्राणात्मक वायु का है जिस का विशेष करके इस सूक्त में वर्णन किया गया है ॥

यमो=यच्छति उपरमयति जीवनात् सर्व भूतग्रामम् ।
अतएव बलवान् इति मध्यमः ॥ नि० १ । २ । ६ ॥

यमः तूर्णगतिः सर्वान् प्राणिन आभिमुख्येन् जीवनायोपसंहाराय तूर्णं गतिस्त्वरितगतिः नि० १२ । २ । ३ यमः यछति प्रयच्छति कामान् जीवनाय इत्यादि ॥

निरुक्तादि से यम शब्द के अर्थ वायु के हैं जो कि सब से बलवान् है और मध्य स्थान अर्थात् अवकाश में रहता है और जिस की तूर्णगति है जो कि सर्व जीवों के जीने का हेतु है और जिस के अभाव से सर्व प्राणियों की मृत्यु भी होती है जो हमारे जीवन की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करता है वह यम है ॥

इस प्रकार ऋषि दयानन्द जी ने संस्कारविधि में भी यम नाम वायु का ही वर्णन किया है, जहां यम के और अनेक अर्थ आदित्य अग्नि विद्युत आदि के लिखे हैं वहां वायु के भी अर्थ लिखे हैं ॥

(वेदार्थः)

(यमाय) प्राणात्मक वायु के लिये (सोमः) सोम ओषधि विशेष का नाम जिस की लक्षणा सर्वलतादि में की जाती है क्योंकि अथर्ववेद में—

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतुः ॥ अथर्व० कां० ५ अनु० ५ सू० २४ ॥

सोम को सम्पूर्ण लताओं का अधिपति माना हुआ है जो कि मनुष्यों की रक्षा का हेतु है (पवते) पूयते अभिषूयते परमात्मना सृष्टौ अर्थात् इस जगत् में परमात्मा ने लतादि को वायु आदि के पवित्र करणार्थ बनाया है (इस पदार्थ ज्ञान से कौन विद्वान् अनभिज्ञ है कि प्राण वायु जब प्राणियों के शरीर से अनेक प्रकार के मल को साथ लेता हुआ बाहर को जाता है तो ईश्वरीय नियमानुसार वनस्पति द्वारा पुनः संस्कृत हो कर प्राणिओं के जीवन का हेतु बनता है यह लतादि वनस्पति ही हैं जो कि प्राण वायु से दुर्गन्धतादि दोष दूर करती हैं यही भाव वेद ने प्रकट किया है) यह बात भी निश्चय जानना आवश्यक है कि ऋग्वेद में भी यह मन्त्र आता है परन्तु वहां केवल इतना भेद है कि वहां " सोमं सुनुत " " सोमः पवते " के स्थान

में है जिन से यही भाव ज्ञात होता है जो कि ऊपर निवेदन किया गया है। (यमाय) प्राणात्मक वायु के लिये (क्रियते) संस्क्रियते, सम्यक् प्रकार से की जाती है (हविः) आज्यादि लक्षणम् अर्थात् अनेक प्रकार के घृतादि वायु पावक पवित्र करने वाले द्रव्यों से हवन किया जाता है, प्रश्नोत्पन्न होता है कि वह यज्ञ यम को प्राप्त किस प्रकार होता है जिस का उत्तर वेद स्वयं ही देते हैं (यज्ञः) हव्य पदार्थः (यमं) मध्यस्थदेवं वायुं (ह) (वै) निश्चयेन (गच्छति) प्राप्नोति प्राप्त होता है, वह यज्ञ कैसा है (अलंकृतः) वेदमन्त्रैर्भूषितः सुसंस्कृतः अर्थात् वेदमन्त्रों द्वारा ब्रह्मादि ४ चार विद्वानों ने जिसका अच्छी प्रकार से संशोधन कर लिया है, अथवा अलंकृतेन अग्नि दूतेन " तृतीयार्थे प्रथमा" " यथा स्वामिना दत्तं धनादिकं दातव्याय प्रयच्छति एवमग्निरपि यजमानेन दत्तं हविस्तस्मै देवाय प्रयच्छतीत्यग्निर्दूत इत्यभिधीयते " अर्थात् जिस प्रकार दूत के द्वारा स्वामी अपने मित्रादि को धनादि पहुंचाता है ठीक उसी प्रकार अग्नि के द्वारा संस्कृत हवि वायुमण्डल में पहुंचाया जाता है, और जब अलंकृत दूत का विशेषण माना जावे तो वेदमन्त्र रूप शस्त्रोभूषित अग्नि यह अर्थ माना जावेगा ॥

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथि कृद्भ्यः ॥२॥

(यमाय) (मधुमत्तमं) अतिशयेन मधुमत् सोमाज्यादिकं हविः अर्थात् अत्यन्त मिष्टगुण प्रधाना सोम घृतादि

हविः । (जुहोतः) 'जुहुत, हवन किया गया है (च) और (आप्रतिष्ठत) 'प्रतिष्ठां यमायैव कुरुत' अर्थात् जो कि विशेष करके जिसकी प्रतिष्ठा वायु के ही लिये हैं । (इदं) हवन किया हुआ घृतादि हव्यविशेष (नम) अन्नं है अर्थात् भोज्य है 'नम इत्यन्ननाम सु पठितम् निघं०' (ऋषिभ्यः) 'किरणेभ्यः प्राणादिभ्यो वा' प्रतिहिताः शरीरे रश्मय आदित्ये इत्यादि नि० १२, ४, ३, अथवा ऋषतिगच्छति प्राप्नोति जानाति वा, स ऋषिः, मन्त्रार्थं द्रष्टा वा (उ० ४, १२) अर्थात् जो एकस्थान से स्थानान्तर को जाता है अथवा प्राप्त करता है वह ऋषि कहलाता है जैसे किरण प्राण मनादि (पूर्वजेभ्यः) 'पूर्वमुत्पन्नेभ्यः' (पूर्वेभ्यः) पूर्वस्थेभ्यः समीपस्थेभ्यः पदार्थेभ्यः (पथिकृद्भ्यः) 'पथां कर्त्तारः मार्गाणां दर्शयितारः सूर्य्यादिलोकेषु प्राणीनां समीपेवा गमयतारःतेभ्यः' अर्थात् हवन किया हुआ अन्न वायु मण्डल को प्राप्त होकर सम्पूर्ण जीवों का अन्न बनता है, सर्व जगत् में वह विस्तृत होकर सुगन्धादि से प्राणियों के आनन्द का हेतु होता है और आदित्य रश्मियों द्वारा मेघ मण्डलादि में और जोर समीपस्थित पदार्थ होते हैं वहां २ पहुंच जाना क्योंकि किरणादि जलादि को वायु द्वारा आकाश में ले जाते हैं अतएव उनको मार्गदर्शक कहा गया है । और यह भी ज्ञात रहे कि सूर्य्य भौतिक अग्नि से पूर्वोत्पन्न माना गया है क्योंकि सूर्य्य अग्नि पुञ्ज वर्णन किया गया है, भौतिक अग्नि सूर्य्य का प्रतिनिधिरूप माना जाता है, अतएव पूर्वजेभ्यः ऋषिभ्यः का विशेषण माना गया है ॥

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हवि र्जुहोतन ।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्रजीवसे ॥ ३ ॥

(यमाय राज्ञे) इस मन्त्र में यम को जो राजा माना गया है तो इस कारण कदापि नहीं कि सायणाचार्यादि पौराणिकों के मतानुसार यमराजा कोई व्यक्तिविशेष यमलोक में रहने वाला है जो कि सर्वप्राणियों के प्राण हरके ले जाता है और जिस पर अनेक गाथाएं गरुडपुराणादि में लिखी गयी हैं, प्रत्युत अथर्ववेद में वायु आकाश का अधिपति माना गया है और उस से जीवनार्थ यथायोग्य व्यवहार की आज्ञा भी है जैसे—

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः समावतु ॥ अथर्व० कां० ५ । अनु० ५ । सू० २४ । मं० ८ ॥

वायु अन्तरिक्ष का अधिपति (राजा) है वह हमारी रक्षा करे, हम लोग संपूर्ण प्राणी तथा अन्नादि जीवन हेतु अन्तरिक्षस्थ हैं अतएव वायु ही हमारा भी राजा कहलाता है। यही कारण है कि यम प्राणात्मक वायु को राजा शब्द से वेद में वर्णन किया है। (घृतवत्पयो) " घृतोपेतं पयो अन्नम् दुग्धादि वा हवि रूपेण संस्कृतं" अर्थात् घृत से मिला अन्न दुग्धादि जो कि हविरूप तैयार किया गया है, "पय शब्द का अर्थ अन्न भी हैं" पय अन्न नाम में निघण्टु में पढ़ागया है। (जुहोतन) "जुहोत जुहुत" अर्थात् हवन किया गया है (स) वह (जीवेषु) " जीवत्सु प्राणिषु मध्ये " प्राण धारियों में (आयमेत)

आयमत, नियमेत स्थापयेत "यथा शीघ्रंमृतिर्नभवेत् तथा करोतु" अर्थात् अच्छी प्रकार से स्थापन करे ताकि दुर्गन्धयुक्त वायु आदि द्वारा जो२ रोग शीघ्र ही मृत्यु का कारण होते हैं वह न हो सकें इस कारण हम लोगोंके (दीर्घमायुः) "शत संवत्सर लक्षणमायुः" वेद की आज्ञानुसार १०० वर्ष पर्य्यन्त (जीवसे) 'जीवनाय' जीने के लिये हो ॥

इस मन्त्र ने स्पष्ट कर दिया कि वायु आदि की शुद्धि क्यों की जावे और क्यों जगदीश्वर ने सोमलतादि औषधियों को वायु की शुद्धि के हेतु उत्पन्न किया है, क्योंकि सर्व प्राण धारियों का प्राण वायु है और जिसके बिगड़ जाने से सब संसार में अनेक प्रकार के रोग अथवा महारोग उत्पन्न हो जाते हैं जिस से अकालमृत्यु आकर सम्पूर्ण प्राणियों को एक साथ नष्ट कर देती हैं अतएव प्रजापति जगदीश्वर आज्ञा देते हैं कि इस प्रकार वायु आदि की शुद्धि के द्वारा जलादि की भी शुद्धि करते हुए शीघ्र आने वाली मृत्यु से बचने का उपाय करो ताकि तुम लोग १०० वर्ष पर्य्यन्त तथा अधिक भी जी सको ॥

मैनमग्ने विदहो माभिशूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो माशरीरम् । शृतं यदा करसि जातवेदोथेमेनं प्रहिणुतात् पितॄँरुप ॥ ४ ॥

(एवम्) 'यजमानं गृहस्थम्' अर्थात् इस यज्ञशील गृहस्थ को (अग्ने) परमात्मन् (मा) न (विदहः) 'विविध क्लेशादिना दाहं माकार्षीः' अर्थात् हे परमात्मन्

आप कृपया गृहस्थ को विविध क्लेशों से न जलाइये जिस से दुःखी होता हुआ गृहसम्बन्धी कार्य्यों को करने में असमर्थ हो जाये। (माभिशूशुचः) ' अभितः शोकयुक्तं माकार्षीः ' कृपया आप सर्व प्रकार से उस को शोकादि से निवृत रखियेगा शोकावृत पुरुष किसी धार्मिक कार्य्य को नहीं करसक्ता ताकि जिस पवित्र काम को करने योग्य आपने उत्पन्न किया है उस को पूर्ण रीति से करसके। (मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्) ' अस्य त्वचं सम्पूर्णं शरीरञ्चमा चिक्षिपः त्वक्भेदं रोगसंयुक्तं वा मा कुर्वित्यर्थः ' इस वाक्य से वेद ने इस बात को स्पष्ट रीति से जतला दिया कि क्यों वायु आदि की शुद्धि पर इतना बल प्रदर्शन किया गया है, वायु का विशेष सम्बन्ध त्वगिन्द्रिय से है जिस कारण शुष्क वायु त्वचा को शोषण करता हुआ अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त कर देता है और शरीर भी इस योग्य नहीं रहता कि किसी कार्य्य को कर सके यदि वायु में अनेक प्रकार से सुगन्धादि घृत दुग्धादि द्वारा आर्द्रभाव विशेषउत्पन्न किया जावे तो विना किसी प्रकार के विशेष यत्नादि के स्वयमेव ही वायु उन रोगों की निवृति करदेता है जिस से शरीर में किसी प्रकार आलस्य अङ्गों का टूटना और अनेक प्रकार के विकार नहीं आते इसी से यह प्रार्थना है॥ हे (जातवेदः) जात प्रज्ञ अग्ने सम्पूर्णज्ञ जगदीश्वर! (अथ) (यदा) (शृतं) परिपक्वं (ईम्) ' एनम् ' (करसि) ' करोषि ' अर्थात् जब आपकी कृपा से यह गृहस्थ गृह कार्य्यों में अच्छे प्रकार परिपक्व निपुण हो जावे अर्थात् जब

यह गृहस्थाश्रम को पूर्ण रीति से समाप्त करने के योग्य हो तो आप (एनं) इस को (पितॄरुप) पितृ समीपं ' विद्वत्समीपं वानप्रस्थाश्रमाय (प्रहिणुतात्) ' प्रहिणुप्रेरय ' ॥ अर्थात् आप की आज्ञा को पालन करता हुआ पितरों अर्थात् कर्मकाण्डी विद्वानों के समीप जाकर विशेष विद्याओं को उपलब्ध करके संसार का उपकार करने के योग्य बन सके। मुझे शोक से इस बात को प्रकट करना पड़ता है कि सायणाचार्यादि को पितृ शब्द के देखते ही क्यों मुरदों का ही भाव उत्पन्न हो जाता है, न जाने क्यों प्रेत को हर समय ले आते हैं काण्ड के आरम्भ से एक भी शब्द इस प्रकार का नहीं आया जिस से इन मन्त्रों का विनियोग प्रेतपरक किया जावे। परन्तु उन की इच्छा को कौन रोक सक्ता है ॥

यदा शृतं कृणवो जातवेदोथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥५॥

हे (जातवेदः) जातेषु, जनेषु ज्ञानिन् विद्वन् (यदा) जब (पितृभ्यः परिदत्तात्) (एनं) पूर्वोक्तं वानप्रस्थं (इमम्) यत्ननिष्ठपुरुष विशेषं (शृतं) परिपक्वं उत्तम संस्कारैः संस्कृतं (कृणवः) अकरोः अर्थात् हे परमात्मन् जब आप की आज्ञा को पालन करता हुआ साधन शील यत्नस्थ पुरुष गृहस्थ से वानप्रस्थाश्रम में जाकर अपने आप को पितरों के अच्छी प्रकार अर्पण करता हुआ उत्तम संस्कारों से युक्त होता है और (यदा) (उ) ' अपि च ' (असुनीतिमेताम्) असून् प्राणान् नयति प्राप्नोति वा प्रा-

णापहर्त्री प्राणदात्री वा देवता तां वाय्वात्मकां (गच्छति) गच्छति प्राप्नोति अर्थात "जब वह पुरुष इस प्रकार साधन करता हुआ प्राणों" अर्थात् जीवन को प्राप्त करनेवाले और जिस के अभाव से प्राणों को हरण करनेवाले देवता वायु को प्राप्त हो जाता है जिसका स्पष्टार्थ यह है कि जब पुरुष पितृगण की शरण लेता हुआ प्राणायाम के साधन द्वारा प्राणों को प्राप्त कर लेता है जिस प्राणायाम को (वेद ने बतलाया) कि प्राप्त करने से आयु की वृद्धि होती है और उस को न प्राप्त करने से प्राणों का नाश अर्थात् मृत्यु का शीघ्र आगमन होता है तो (अथ) अनन्तरम् पश्चात् (देवानां) "द्योतमानानां स्वकीयानामिन्द्रियाणाम्" (वशनीः) वशं नयतीति वशनी (भवति) 'भवति' अर्थात् प्राणायामादि साधनों द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश करने वाला होता है ॥

तात्पर्य्य यह है कि वानप्रस्थाश्रम में जाकर मनुष्य सम्पूर्णतया अपने आप को पितरों के अर्पण करता हुआ उन से साधनों को सीख कर और उन के सत्सङ्गादि के द्वारा परिपक्व अर्थात् उत्तम संस्कारयुक्त होता है जिस से प्राणायामादि योग साधनों को करता हुआ अपने मनादि सर्व इन्द्रियों को वश में करता है जिस से उस को मृत्यु का भय सर्वथा दूर हो जाता है और उत्तम प्रकार से दीर्घ आयु वाला होता है जिस के लिये पूर्व मन्त्रों में प्रार्थना की गयी थी और इस में उसके साधन वर्णन किये गये हैं ॥

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता॥६॥

(त्रिकद्रुकेभिः) त्रिकद्रुकैः ज्योतिष्टोमगोष्टोमायुष्टोमाख्यैः त्रिकद्रुका इत्युच्यन्ते तैर्निमित्त भूतैः (पवते) पूयतेऽभिषूयते (षडुर्वी) "षडूर्वयः द्यौश्च पृथिवी च अहश्च रात्रिश्च आपश्च ओषधयश्च एताः षडुर्वयः" अर्थात् तीनों प्रकार के यज्ञों से छः प्रकार की उर्वी द्यौ, पृथिवी, दिन, रात्री, जल, और ओषधी यह सब पवित्र होजाते हैं अर्थात् यज्ञों के पूर्ण रीति से अनुष्ठान करने से प्रत्येक दुःख जो कि प्राप्त होने सम्भव हैं पूर्णतया दूर होजाते हैं और सर्व ओर से शान्ति ही शान्ति प्रतीत होने लगती है। दूसरे स्थलों में षडुर्वी को छः ऋतुयें भी लिखा है जो मिल कर (एकमेत्) 'एकमेव' पृथिवी आदि को एक लोक वर्णन किया है और ऋतुओं के पक्ष में एक सम्वत्सर माना जाता है। अब तीनों यज्ञों के साथ तीन छन्दों का भी वर्णन किया गया है जिनका प्रत्येक के साथ विशेष २ संबन्ध प्रतीत होता है (वृहत्) वृहती छन्दः (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्छन्दः (गायत्री) गायत्री छन्दः, इन में से गोष्टोम का विशेष सम्बन्ध वृहती के साथ है गोपथ ब्राह्मण में इस बात को स्पष्ट किया है कि वृहती छन्द के भी ३६ ही अक्षर होते है और गौ के भी ३६ भाग माने गये हैं, गो नाम वाणी का है। विशेष गोपथ में से देखलीजियेगा। मैं केवल इस स्थान पर इतना संकेत मात्र ही लिखना उचित जानता हूं, गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग प्र० १ खं० २४ में ओङ्कार की व्याख्या करते हुए क्या सुन्दर प्रकार से ३६ प्रश्न किये गये हैं जिनसे सम्पूर्ण रीति से वाणी के प्रत्येक अङ्ग को वर्णन कर दिया है कि वाणी के लिये

३६ अङ्गों की ही अवश्यकता पड़ती है जैसे प्रश्न किया गया है ॥

ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः किं प्रातिपदिकं ।

किं नामाख्यातमित्यादि ॥ गो० पूर्व० प्रपा० १ खं० २४

कि ओङ्कार में धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात प्रत्ययादि ३६ प्रकार के प्रश्न किये गये हैं जिन का प्रत्येक का उत्तर सम्पूर्ण रीति से दिया गया है और फिर उसी में आगे जाकर यह भी वर्णन किया है ॥

षट्त्रिंशदवदाना गौ षट्त्रिंशदक्षरा बृहती ॥

गोपथ० पूर्व० प्र० ३ खं० १८

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री, बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप् ।

गो० उत्तर० प्र० ५ खं० ५

वीर्यं वै अग्निः, वीर्येणैवास्मै तत् प्रणयति ॥

गो० प्र० ६ खं० ७

इत्यादि प्रमाणों से ज्योतिष्टोम का त्रिष्टुप से और आयुष्टोम का गायत्री से विशेष सम्बन्ध माना गया है ॥

(ता) (सर्वा) सर्वाणि तानि (यम) (आर्पिता) आर्पितानि ॥

जब पुरुष बाह्य यज्ञों को पूर्ण करता हुआ आत्मिक यज्ञों को करता है तो उसके लिये सर्व प्रकार के यज्ञ प्राणात्मा में ही अर्पण किये जाते हैं जहां पूर्व गृहस्थाश्रम में प्राणात्मक वायु के द्वारा सर्व दुःखों की निवृत्ति की जाती है वहां योगी मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो सब कुछ

उस सर्व प्राणात्मा प्रभु परमात्मा में अर्पण कर देता है। यही इस वेद मन्त्र में विशेष उपदेश दिया गया है ॥

सूर्य्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः आपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥

इस मन्त्र में मनुष्यों को उपदेश दिया है कि सम्पूर्ण ज्ञान की पूर्ति के लिये जिस प्रकार साधन दिये गये हैं और ब्रह्माण्ड में जो २ पदार्थ रक्खे गये हैं उन २ का प्रतिनिधि अथवा तत्तत्पदार्थ के ज्ञान का साधन एक न एक अवश्य दिया गया है उस २ साधन द्वारा तत्तद्ग्राह्य पदार्थों का सम्यक् प्रकार से बोध करना चाहिये जिस से संपूर्ण पदार्थों को उल्लंघ करता हुआ किसी प्रकार से भ्रम में न पड़े और वह भ्रम उस की उन्नति में बाधा डालने का कारण न बन सके। (सूर्य्यं) (चक्षुषा) चक्षुद्वारेण (गच्छ) प्रपद्य जानीयात् सूर्य्यज्ञाने चक्षुरेव साधनम् अर्थात् चक्षु जिस प्रकार इस शरीर में प्रत्येक वस्तु के दिखलाने का हेतु है ठीक उसी प्रकार इस सौर जगत् में सूर्य्य माना गया है इस प्रकार योगी जन विशेष आन्दोलन करता हुआ पूर्ण ज्ञान की प्राप्त करने का यत्न करै वेद में लिखा भी है ॥

सूर्य्यश्चक्षुषामधिपतिः समावतु ॥ अथर्व० कां० ५ । अनु० ५ । सू० । २४ । मं० । ९ ॥

सूर्य्य संपूर्ण चक्षुओं का अधिपति है वह हमारी रक्षा करे, विशेष प्रथम लिखा गया है (वातं) वायु

सूत्रात्मानं (आत्मना) अत्रात्मशब्देन मुख्यप्राणो
भिधीयते तेन तम् जानीयस्व (धर्मभिः) शरीरधार
रितरै रिन्द्रियैः (दिवंचपृथिवींच) (गच्छ) (आपो
उदकानि अन्तरिक्षं (वा) अथवा गच्छ प्राप्नुहि (ओ
षीषु) सोमलतादिगुडूच्यादिष्वोषीषु (प्रति शरीरैः
स्वावयवैः कर्मेन्द्रियैः (तिष्ठा) तिष्ठस्थितिं कुरु अर्थात अ
तथा ओषधियों में अपनी स्थिति कीजियेगा जिस से संस
में वैद्यकादि के द्वारा शारीरिक रोगों की निवृत्ति की जा
के परन्तु यह अवश्य ध्यान रहे (यदि) (ते) तव (तत्र
तस्मिन् विषये) (हितं) भवेत् अर्थात यदि तेरा उस
हित है जिस से यह भी वेद ने जतला दिया है कि मनु
ष्यों को प्रत्येक विषय में ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहि
और उस २ पुरुष विशेष को अपने २ हित के अनुसार अ
त्मिक संस्कारों को अच्छी प्रकार सोचते और विचारते हु
प्रत्येक विषय (Subject) की जांच परताल करके ग्रहण करन
चाहिये ऐसा न हो किसी विशेष प्रेरणादि के कारण इच्छ
के विपरीत विषय का ग्रहण किया जावे जिस पूर्णज्ञान को
उपलब्ध करने में असमर्थ होकर अधूरे ज्ञान के कारण लो
में दुःख का कारण बनो जैसे कि इस समय अनेक पुरुष लो
लालच के वशीभूत अनेक प्रकार के कार्यों को करते हैं जि
से वह तो कुछ काल के लिये धनादि एकत्रित करते हैं प
रन्तु साधारण प्रकार से विद्वान पुरुषों की उस विषय
अप्रीति हो कर अश्रद्धा हो जाती है और उस पुरुष को भी
उस में उत्तीर्णता नहीं हो सक्ती ॥ अतएव वेद ने पुरुषों को

सूत्रात्मानं (आत्मना) अत्रात्मशब्देन मुख्यप्राणो
भिधीयते तेन तम् जानीयस्व (धर्मभिः) शरीरधारै
रितरै रिन्द्रियैः (दिवंचपृथिवींच) (गच्छ) (आपो
उदकानि अन्तरिक्षं (वा) अथवा गच्छ प्राप्नुहि (ओ
षीषु) सोमलतादिगुडूच्यादिष्वोषधीषु (प्रति शरीरैः
स्वावयवैः कर्मेन्द्रियैः (तिष्ठा) तिष्ठस्थितिं कुरु अर्थात अ
तथा ओषधियों में अपनी स्थिति कीजियेगा जिस से संसा
में वैद्यकादि के द्वारा शारीरिक रोगों की निवृत्ति की जा
के परन्तु यह अवश्य ध्यान रहे (यदि) (ते) तव (तत्र
तस्मिन् विषये) (हितं) भवेत् अर्थात यदि तेरा उस
हित है जिस से यह भी वेद ने जतला दिया है कि मनु
ष्यों को प्रत्येक विषय में ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहि
और उस २ पुरुष विशेष को अपने २ हित के अनुसार आ
त्मिक संस्कारों को अच्छी प्रकार सोचते और विचारते हु
प्रत्येक विषय (Subject) की जांच परताल करके ग्रहण करन
चाहिये ऐसा न हो किसी विशेष प्रेरणादि के कारण इच्छ
के विपरीत विषय का ग्रहण किया जावे जिस पूर्णज्ञान को
उपलब्ध करने में असमर्थ होकर अधूरे ज्ञान के कारण लोक
में दुःख का कारण बनो जैसे कि इस समय अनेक पुरुष लोभ
लालच के वशीभूत अनेक प्रकार के कार्यों को करते हैं जिस
से वह तो कुछ काल के लिये धनादि एकत्रित करते हैं प
रन्तु साधारण प्रकार से विद्वान पुरुषों की उस विषय मे
अप्रीति हो कर अश्रद्धा हो जाती है और उस पुरुष को भी
उस में उत्तीर्णता नहीं हो सक्ती ॥ अतएव वेद ने पुरुषों को

आज्ञा करते हुए यही पद दिया है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक विषय में उन्नति पूर्णतया कदापि नहीं करता है। और न ही कर भी सक्ता है ॥

विशेष ध्यान रहे कि जिन पदुर्विधों को दूसरे ग्रन्थों से दिखलाया है वह वेदने स्वयं १ सूर्य्य २ वात ३ दिव ४ पृथिवी ५ आप ६ ओषधी इन शब्दों से इस वेदमन्त्र में वर्णन करदिया है ताकि विद्वान् जानें और उस पर विशेष विचार करते हुए संसार में सुख की वृद्धि और दुःख के नाश करने का साधन बनें ॥

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामुलोकम् ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में समाधिस्थ पुरुष सर्वस्व को परमेश्वर के अर्पण करता हुआ विशेष कर जीव आत्मा की उन्नति का प्रार्थी होता है, यह विद्वान् लोग अच्छे प्रकार जानते हैं कि मनुष्य के दो भाग हैं एक अजभाग और दूसरा विनश्वर अर्थात् एक जीवात्मा है और द्वितीय शरीर है, शारीरिक अनेक प्रकार के रोगों की निवृत्ति के लिये अनेक प्रकार के साधनों का उपदेश देते हुए जगदीश्वर आत्मा विषयक उपदेश देते हैं जिस से आत्मिक उन्नति को उपलब्ध करता हुआ पुरुष अथवा स्त्री परमलोक अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर सके ॥

(अजोभागः) न जायते इति अजो जीवो हे (जातवेदस्)

आज्ञा करते हुए यही पद दिया है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक विषय में उन्नति पूर्णतया कदापि नहीं करता है। और न ही कर भी सक्ता है ॥

विशेष ध्यान रहे कि जिन चतुर्विधों को दूसरे ग्रन्थों से दिखलाया है वह वेदने स्वयं १ सूर्य्य २ वात ३ दिव ४ पृथिवी ५ आप ६ ओषधी इन शब्दों से इस वेदमन्त्र में वर्णन करदिया है ताकि विद्वान् जानें और उस पर विशेष विचार करते हुए संसार में सुख की वृद्धि और दुःख के नाश करने का साधन बनें ॥

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में समाधिस्थ पुरुष सर्वस्व को परमेश्वर के अर्पण करता हुआ विशेष कर जीव आत्मा की उन्नति का प्रार्थी होता है, यह विद्वान् लोग अच्छे प्रकार जानते हैं कि मनुष्य के दो भाग हैं एक अजभाग और दूसरा वित्तश्वर अर्थात् एक जीवात्मा है और द्वितीय शरीर है, शारीरिक अनेक प्रकार के रोगों की निवृत्ति के लिये अनेक प्रकार के साधनों का उपदेश देते हुए जगदीश्वर आत्मा विषयक उपदेश देते हैं जिस से आत्मिक उन्नति को उपलब्ध करता हुआ पुरुष अथवा स्त्री परमलोक अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर सके ॥

(अजोभागः) न जायते इति अजो जीवो है (जातवेदस्)

परमात्मन् (तम्) जीवम् (तपसः) तपसा तापकेन तेजसा (तपस्व) तापय (तं) अजभागं (ते) तव (शोचिः) दीप्तिः (तपतु) (तम्) एवाजम् (ते) तव (अर्चिः) ज्वाला तेजः तपतु । अर्थात् हे तेजस्विन् आप कृपा करके अपने ज्ञान बल तेज से इस जीवात्मा को उत्तेजित कीजियेगा जिस से तेजस्वी हो कर साधन शील कुसंस्कारों से छूटकर (ते) तव (याः) (शिवः) शिवः सुखकराः (तन्वः) भोगैश्वर्यसाधनानि सन्ति (ताभिः) तनूभिः शरीर सुखकारीभिः (एनम्) जीवात्मनम् (सुकृताम्) उत्तमं श्रेष्ठम् (लोकम्) स्थानं जन्मवा (उ) निश्चयेन कृपया (वह) प्रापय । अर्थात् हे परमात्मन् उस २ स्थान को प्राप्त होऊं जहां उत्तम माता पिता के द्वारा वैदिक संस्कारों को धारण करता हुआ उत्तम गति को प्राप्त करूं उन शरीरों को उपलब्ध करूं जो कल्याण कारी हैं नीच योनियों से कृपया इस जीव को पृथक् ही रखियेगा और मनुष्य योनि में भी ब्राह्मण जन्म और कर्म से युक्त कीजियेगा ॥

यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् । अजं यन्तमनुताः समृणवतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधिः ॥ ९ ॥

हे (जातवेदः) (ते) तव (याः) (शोचयः) दीप्तयः (रंहयः) ज्ञानवत्यः "रहिगतौ औणादिक इप्रत्ययः" अर्थात् हे सर्व जगत् को उत्पन्न करके धारण करने हारे पूर्णज्ञ परमात्मन् आप की ज्ञानमय दीप्ति प्रकाश है (याभिः) जिस से आप (दिवमन्तरिक्षम्) द्य-

लोक और अन्तरिक्ष लोकों (आपृणासि) आसमन्तात् पूरयसि अच्छी प्रकार चारों ओर से भरपूर कर रहे हो (ताः) वह सर्व प्रकार का प्रकाशादि ज्ञान बल पराक्रम (यन्तम्) गच्छन्तम् आप्तुं यत्न कर्तारम् (अजम्) जीवात्मानम् (अनु समृण्वताम्) अनु संगच्छन्ताम् अर्थात् उस ज्ञान प्राप्ति के लिये यत्न करने वाले जीवात्मा को प्राप्त हों (अथ) अनन्तरम् और तत्पश्चात् (इतराभिः) इतराभिस्तनूभिः साधनैर्वा (शिवतमाभिः) अत्यन्त सुखकराभिः (मृत) परिपक्वम् (कृधि) कुरु ॥

अर्थात् हे परमात्मन् एक जन्म के दिये हुए साधनों को पूर्ण रीतिसे वर्त्तता हुआ मनुष्य यदि सम्यक् प्रकार से उन से यथा योग्य व्यवहार करता हुआ उन से उन्नति करता है तो परमात्मा से प्रार्थना के योग्य होता है कि हे प्रभो! इस से भी उत्तम शरीरादि साधनों को प्राप्त कर जिस से यह जीव पूर्ण रीति से परिपक्व होकर मोक्ष को प्राप्त कर सके, इस मन्त्र ने इस बात को भी सिद्धकरदिया कि यदि कोई यह चाहे कि विना पूर्ण ज्ञान वेद और आत्मा को पूर्ण परिपक्व करने के मुक्ति की अकांक्षा करे तो उस को प्राप्त नहीं हो सकती परन्तु अनेक जन्मों द्वारा ईश्वर की आज्ञा को पालन करते हुए साधन शील होता हुआ अनेक जन्मों के कुसंस्कारों को दूर कर के मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं, यदि कोई प्रश्न करे कि अनेक पुरुषों के इतिहास से पता लगता है कि वह एक ही जन्म में ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर जीवन मुक्त हुए। यदि विद्वान् पुरुष इस पर ध्यान देंगे तो उन को निश्चय

हो जावेगा कि पूर्व अनेक जन्मों के द्वारा साधन करते हुए उस विशेष जन्म को प्राप्त हुए थे जो कि उन विशेष पुरुषों का शिवतम जन्म कहना चाहिये जैसा कि वेद ने अन्त में शिवतम शब्द को वर्णन किया है जो कि हम साधारण पुरुषों के ज्ञान में नहीं आता और योगी इस बात को अच्छे प्रकार अन्वेषण कर के बतला सक्ता है कि उस पुरुष विशेष ने कितने जन्मों से साधन करते हुए उस पदवी को प्राप्त किया। जैसे लिखा भी है—

अनेक जन्म संसिद्धिः ततो याति परां गतिम् ॥
अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् । आयुर्वसान उप यातु शेषः संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ १० ॥

हे (अग्ने) प्रकाश स्वरूप परमात्मन् (यः) जो (ते) 'त्वयि' तुझ में (आहुतश्चरति स्वधावान्) स्वधावान् पुरुषः 'स्वधा अमृतात्मकमन्नं' यजु० भाष्ये स्वधेति अन्न नामसु पठितम् (निघं० २।७) स्वधे इति द्यावा पृथिव्योर्नामसु पठितम् (निघं० २।३०) इत्यादि प्रमाणों से ज्ञात है कि जो पुरुष उत्तमाहारी अनेक प्रकार की विद्याओं को जानने वाला अच्छे प्रकार यज्ञों को करने वाला है उस को (पितृभ्यः) विद्वद्भ्यो यज्ञ शीलेभ्यः (पुनः) (अवसृज) उत्पादय अर्थात् विद्वानों के गृह में जहां नित्य प्रति वैदिक संस्कार होते रहते हैं वहां उपरोक्त पुरुष को फिर दूसरी वार उत्पन्न कर इस से वेद ने यह भी उपदेश किया है कि केवल कर्मकाण्ड के द्वारा जीवन मरण से मनुष्य नहीं छूट सकता प्रत्युत

उस के लिये उत्तम साधन अवश्य मिलते हैं जिस से वह पुरुष (शेषः) अपत्य नामैतत् (निरु० ३ । २) (आयुर्वसानः) आयुष्मान् (उपयातु) उपगच्छतु संभवतु च शेषः (तन्वा) स्वीयेन शरीरेण पितृभ्यः प्राप्तेन शरीरेण (सुवर्चाः) शोभनेन वर्चसा युक्तः (संगच्छतां) सम्यक् भवतु । अर्थात् विद्वानों और उत्तम पुरुषों के गृह में अपत्यरूप (सन्तानरूप) हो कर आयु वाला हो अर्थात् दीर्घकाल पर्यन्त जीवन को धारण करसके और उस उत्तम शरीर से जो इस प्रकार पितरों के द्वारा प्राप्त किया है तेजस्वी हो जिस से अनेक प्रकार के साधन करता हुआ उत्तम गति को प्राप्त करसके ॥

दूसरे सूक्त में विशेष कर के इस बात का उपदेश दिया गया है कि क्यों मनुष्यों को इस प्रकार से साधनशील होने की आवश्यकता है और उन के क्या २ कर्तव्य इस जगत् में हैं जिन के पूरा करने के लिये यह मनुष्य देह उस जगन्नाथ से दी गई है जिस के ग्रहण करने का उपाय पूर्व वर्णन किया है, मुझे शोक से यह भी प्रकट करना है कि इस प्रकार उत्तम उपदेश को पण्डित लोगों ने यम के कुत्ते कहा है और उन की विचित्र आकृतिओं को वर्णन किया है और मृतक शरीर के अनेक प्रकार से यम के दर्बार में लेजाने वाले माने हुए हैं, न जाने कब से यह भाव पौराणिक खोल के कारण पण्डित लोगों के मत में उत्पन्न हो गये हैं और जिस कारण आवरण से दूसरी ओर से सत्यार्थ के आन्दोलन का किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न नहीं किया गया और यथा तथा

कर उसी पौराणिक भाव को निकालने पर ही अपना बल प्रकट किया गया है चाहे वह अर्थ एक दूसरे से सङ्गत भी न हो सकें अस्तु ॥

अथर्व० का० १८ अनु० २. सू० २.

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अधा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये संधमादं मदन्ति ॥ १ ॥ ११ ॥

(श्वानौ) श्वयति गच्छति प्राप्नोति वर्द्धतेऽसौ अनेन वा श्वा ज्ञानञ्च कर्मञ्च (सारमेयौ) वाग्वै सरमा इति विज्ञायते (निरुक्त भाष्ये ११।३।४) माध्यमिका वाक् नैरुक्त पक्षेण सा कस्मात् सरणात् गमनात् (निरु० ११।३।३) तस्या जातौ सारमेयौ (चतुरक्षौ) चत्वारि अक्षीणि ययोः चतुर्षुवेदेषु प्रतिपादितत्वात् तेषां वेदानां प्रदर्शन साधनत्वात् चक्षुवत्प्रदर्शकत्वात् (शबलौ) शबति गच्छति विवेक ज्ञानं प्राप्नुवन्ति मनुष्या धर्माधर्मेषु इति शबरः शबलः तौ (साधुना) साध्नोति धर्मं कर्मेति साधु सज्जनः, तद्विचरितेन पथा साधुना (पथा) मार्गेण समीचीनेन ऋजुना पथा (३।१।१) (अतिद्रव) अतीत्यगच्छ अर्थात् प्रभु उपदेश करते हैं कि हे यतनस्य ब्रह्मचर्य्य को धारणकरते हुए मनुष्य जिस मार्ग के द्वारा सज्जन पुरुष चलते हुए उत्तम गति को प्राप्त करते हैं वह तो सीधा मार्ग है उस पर आरूढ़ होकर ज्ञान और कर्म को जो सरमा नाम वाणी से उत्पन्न होते हैं और जिन की चार आंखें हैं अर्थात् चारों वेद जो वाणी का विषय है और शब्द ज्ञान हैं जिस प्रकार आंखका कर्म नीच ऊंच को

दिखला देना है ठीक उसी प्रकार वेदों को ज्ञान चक्षु माना गया है क्योंकि वेद के ज्ञान के विना मनुष्य अन्धकारावृत ही रहता है विशेष ऋषि के ग्रन्थों को विचारने से पता लग सक्ता है। और जिनके द्वारा विवेकादि प्राप्त किये जाते हैं इस कारण उनको शवली कहा गया है उनको प्राप्त कर के ही मनुष्य परलोक को प्राप्त करने की सामर्थ्य रख सक्ता है, यावत्पर्य्यन्त ज्ञान और कर्म को प्राप्त नहीं कर लेता और उन से पार नहीं होजाता तावत्पर्य्यन्त उपासना की सिद्धि कदापि नहीं कर सक्ता इसी कारण वेदमन्त्र में उपदेश दिया गया है कि प्रथम ज्ञान और कर्म से पार होने की आवश्यक्ता है (अधा) अथ, अनन्तरम् तत्पश्चात् (पितॄन्) विदुषः, विद्वान् धर्मात्मा यज्ञ शील मनुष्यों को (सुविदत्रान्) विदत्व शब्दों धनवाची, सुधनान् मनुष्यान् शोभनहविशीलान् "ऋहलोर्ण्यत्" कत्रन् प्रत्ययः " ज्ञानवाची विदत्र शब्दः, संज्ञानान् पितॄन् अर्थात् उत्तम ज्ञानवाले और अनेक प्रकार के धनादि व्यय करके हवन करने वाले पितरों को (अपीहि) उपेहि 'अपशब्द उपोपसर्गस्यार्थः उपेहि उपगच्छेत्यर्थः' सत्सङ्गादि द्वारा प्राप्त कर उन के समीपवर्त्ती होकर उनसे ज्ञानादि की उपलब्धिकर (ये) जो (यमेन) प्राणात्मक वायुना प्राणायामादि साधनेन (सधमादं) सदमादनम् तृप्तिर्हर्षोवा यस्मिन् कर्मणि साधने वा तत् [सधमादस्थयोश्छन्दसि अष्टाध्यायी] इति सदस्य सधादेशः (मदन्ति) प्राप्नुवन्ति आनन्दतया। अर्थात् यम वायु को साधते हुए अनेक प्रकार हर्ष आनन्द तृप्ति को प्राप्त करते हैं, उन पि-

तरों को प्राप्त कर, जिससे तुम भी वेद ज्ञान को पूर्ण रीति से आत्मिक शुद्धि द्वारा प्राप्त करके मोक्ष के अधिकारी बन सको ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा। ताभ्यां राजन् परिधेह्यनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि ॥ २। १२ ॥

(यौ) जो दो (ते) त्वदीयौ, आपके (श्वानौ) तदेव ज्ञानञ्च कर्मैव (यम रक्षितारौ) यमात् मृत्योः रक्षितारौ, अथवा यमस्य प्राणस्य रक्षितारौ, अर्थात ज्ञान और कर्म ही मनुष्यों को मृत्यु से बचाते हैं, मृत्यु उनको कदापि भय नहीं दे सक्ता और इन्हीं दोनों साधनों से प्राणों की रक्षा होती है अतएव उन को यम रक्षितारौ कहा गया है। (पथिषदी) मोक्ष मार्ग सीदन्तौ, मोक्ष को प्राप्त करनेवाले मनुष्यों को अवश्य जानने योग्य होने से मानो उस मार्ग में वह सदैव स्थित रहते हैं क्योंकि उनकी प्राप्ति के विना कोई मनुष्य उस मार्ग में चल ही नहीं सक्ता सब से पूर्व इन ज्ञान और कर्म को उपलब्ध करना अत्यावश्यक है। (चतुरक्षौ) पूर्ववत् चारों वेद हैं प्राप्ति का साधन जिनके (नृचक्षसा) नृचक्षसौ मनुष्यैः ख्याप्यमानौ अर्थात् जो पशु पक्षि आदि को पृथक् करके केवल मनुष्यों के द्वाराही ख्यापन प्रकट किये जाते हैं जिनको केवल मनुष्य ही जान सक्ते हैं और वही जिन को उपदेशादि द्वारा दूसरों को ज्ञान करासक्ते हैं (ताभ्यां) उनसे (राजन्) राजृ दीप्तौ अतः स्व प्रकाशस्वरूप परमात्मन् (परिधेहि) परितः सम्यक् प्रकारेण

पोषय, पालय, अच्छी प्रकार से रक्षा कीजियेगा। (स्व-स्त्यस्मै) ताभ्यामस्मै कल्याणं (अनमीवं) अमीवो रोगो-बाधा तद्रहितमनमीवम् (च) (धेहि) विधेहि संपादय। अर्थात उसको उन से कल्याण को प्राप्त कराइयेगा और रोगादि दुःखों से दूर रखियेगा॥

प्रश्न हो सकता है कि यदि श्वानौ के अर्थ ज्ञान और कर्म हैं तो उन से रक्षा की प्रार्थना क्यों की गई है अवश्य ही पौराणिक मन्तव्यानुकूल कुत्ते ही होंगे जिन की अनेक प्रकार से गाथाएं प्रचलित हैं इत्यादि—

यदि विचारा जावे तो ज्ञान और कर्म मनुष्यों को सदैव ही मोक्ष मार्ग में नहीं पहुंचाते प्रत्युत नरकगामी भी कर देते हैं ज्ञान दुधारी तलवार माना गया है चाहे उस से उत्तम साधनों को प्राप्त करता हुआ जगदीश्वर के दर्शनों का अधिकारी बन सके चाहे अनेक प्रकार के नीच साधनों द्वारा लोभादि में पड़कर अनेक प्रकार के मनुष्यघातक शस्त्रास्त्रों को त्यार कर के ईश्वरीय सृष्टि का नाश करदे चाहे उसी ज्ञान और कर्म के बल से हर एक प्रकार आनन्द विस्तृत करे चाहे अनेक प्रकार के दुःखों को राज्य में फैलादे, परन्तु वेद की आज्ञा यह है कि ज्ञान कर्म को उत्तम रीति से वर्तता हुआ सुख और आनन्द को जगत् में विस्तृत करने का कारण मनुष्यों को बनना चाहिये नकि उलटा दुःख और क्लेश का, जिस से बचने और उत्तम सद्गति की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है। मनुष्यों को अच्छी प्रकार इस बात को जतलाया गया है कि वेद (ज्ञान

और कर्ममूलक) कुछ भी नहीं कर सक्ते यदि पापी आत्मा उन को विपरीत भाव से वर्तना चाहे यदि चारों वेदों का वक्ता हो कर काम क्रोध वश हो अनेक प्रकार के पाप करेगा तो वेद का कुछ दोष नहीं अथवा उन को उलटा जानकर देश और जाति में महीधरादि के समान अनेक प्रकार के हिंसाजनक पापों का उपदेश करे तो संसार में केवल दुःख ही दुःख फैल जाता है, अतएव वेद का उपदेश है कि उन से सदा कल्याण के ही मार्ग में जाना चाहियें और वही रोगादि का नाशक होता है ॥

उरूणसा वसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु । तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुं मयेहि भद्रम् ॥ ३ ॥ १३

(उरूणसौ) विस्तीर्णागतिर्ययोः, णस् गतिकर्मा । निघं० २ । १४ । उरू बहु नाम । निघं० ३ । १ । अनेक प्रकार की है गति जिनकी, (असुतृपौ) प्राणिनां प्राणानां वा तृप्तिकारकौ जिनके कारण सम्पूर्ण भूतों की तृप्ति होती है अथवा प्राणों का तर्पण करने वाले (उदुम्बलौ) विस्तीर्णबलौ जिन के द्वारा मनुष्यों में अनेक प्रकार का बल और पराक्रम उत्पन्न हो जाता है जिस प्रकार कि मैंने पूर्व मन्त्र की व्याख्या के लिये वर्णन किया था स्वयं वेद अच्छी प्रकार उसको विस्तृत करता है । (यमस्य) परमात्मनो (दूतौ) दूतवत् कार्य्यादि कर्त्तारौ (चरतो जनां अनु) मनुष्यान् लक्षीकृत्य नित्यमेव सर्वत्र संचरतौ (तौ) ज्ञान और कर्म जो कि परमेश्वर की ओर से दूत के समान कार्य्य

करने के लिये सर्वस्थानों में प्रत्येक मनुष्य के साथ विचरते हैं वह (अस्मभ्यम्) हम सब मनुष्यों के लिये (अद्य) इदानीम् (इहि) अस्मिन् जन्मनि (पुनः) पुनश्च द्वितीय-जन्मनि च (असुमृदाताय) (भद्रम्) च (दृशयेसूर्य्याय) भवतामिति शेषः, अर्थात् इस संसार में इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी कल्याण के देने वाले, प्राणों के पोषक और सूर्य्य अर्थात् अनेक प्रकार की ज्योति के दिखलाने वाले हों, इस मन्त्र में उपदेश दिया गया है कि यह ज्ञान और कर्म जो अनेक प्रकार के गुणों से सम्पन्न हैं मनुष्यों को अच्छी प्रकार धारण करने चाहिये जिस से इस जन्म में और द्वितीय जन्म में भी कल्याणादि की प्राप्ति हो सके, (सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्यचक्षुः) इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से भी सूर्य्य जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् का चक्षु माना गया है इसी प्रकार हमारी आंखें भी इस शरीर का सूर्य्य है जिस के द्वारा ही हम संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सक्ते हैं और जिस प्रकार सूर्य्य और जगत् का केन्द्र है ठीक उसी प्रकार इस शरीर की सम्पूर्णेन्द्रियें चक्षु से ग्रहण की जाती हैं अर्थात् हम लोग ज्ञान, कर्म के द्वारा अपने सम्पूर्ण शरीर के अवयवों को कल्याण के लिये बनावें जिस से इस जन्म और अन्य जन्म में हमें सुखहीसुख प्राप्त हो। अब विचार यह है कि यदि सायणाचार्य्य अथवा पुराण की गाथाओं को माना जावे तो भी श्वानौ शब्द के कुत्ते अर्थ करते हुए संगति नहीं लगती है पूर्व तो जैसे सायणाचार्य्य ने यमपुरी के द्वार पर ठहरे हुए दोनों कुत्तों का वर्णन

किया है, यदि इस बात को मान भी लिया जावे तो दूसरे मन्त्र में वही कुत्ते प्रत्येक मनुष्य के साथ रहने वाले नहीं हो सक्ते क्योंकि पुराण में भी दो पृथक् देवता माने गये हैं जो उस यमपुरी के द्वार पर ठहरने वाले कुत्तों से भिन्न कोई और हैं जो सुकर्म और कुकर्म की परताल किया करते हैं जैसे कि मुसलमानादि लोग मुनकर और नकीर मानते हैं वैसे ही पौराणिक भी मानते हैं और फिर वह जब सम्पूर्ण मनुष्यों को दुःख देने के लिये बनाये हैं तो वह कल्याण कैसे प्राप्त करा सक्ते हैं जिस के लिये प्रार्थना है। इत्यादि पौराणिक भाव से भी संगति लगनी असम्भवसी है, और यदि तत्वतः विचारा जावे तो स्पष्ट निश्चय हो जाता है कि यह सम्पूर्णतया गप्प है, प्रथम तो यमपुरी ही जगत् में कोई नहीं यदि इसी जगत् का नाम कोई यमपुरी रक्खे तो ऐसे २ कोई दो कुत्ते इस संसार में नहीं मिलेंगे जो हर समय मनुष्यों के पीछे २ फिरते रहें जिन की चार २ आंखें हों और जिन की नासिका बड़ी २ लम्बी चौड़ी हों इत्यादि सोचने से स्पष्ट विदित होता है कि यह अलंकार है जिस को निरुक्त के टिप्पणीकार ने भी अलङ्कार ही माना है और पौराणिक गप्प को तत्वतः गप्प ही माना है ॥

सोम॒ एके॑भ्यः पवते घृ॒त मेक॒ उपा॑सते ।
येभ्यो॒ मधु॑ प्र॒धाव॑ति॒ ताँश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥४।१४॥

इस मन्त्र में और इस के पश्चात् कई एक मन्त्रों में यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्यों को किन २ पुरुषों की सङ्गति से अपने जीवन को सुधारने के लिये विशेष यत्न करना

चाहिये जिस से ज्ञान और कर्म की अच्छी प्रकार वृद्धि हो। प्राणादि के शोधनादि के लिये प्रथम मन्त्र में सोम का वर्णन किया गया था अतएव यहां भी सोमादि यज्ञ सामग्री से ही आरम्भ करते हैं अर्थात् जो पुरुष उन को जानकर वर्तते हैं और जगत् में सुख का प्रचार करते हैं॥

(एकेभ्यः) केभ्यश्चिद् विद्वद्भ्यः (सोमः) (पवते) बहुत से ऐसे विद्वान् हैं जो सोमादिलताओं के ज्ञान को उपलब्ध कर के उन से यज्ञादि करते हैं और उन्हीं का प्रचार जगत् में करते हैं और उन के द्वारा रोगादि की निवृत्ति के साधक बनते हैं (एके) अन्ये विद्वांसः (घृतम्) अन्नादिक आज्यं वा (उपासते) उपगच्छन्ति उपभुञ्जत इत्यर्थः, अर्थात् कई एक ऐसे विद्वान् हैं जो अन्नादि और घृत की ही उपासना करते हैं उन को उन्हीं के ज्ञान और उपलब्धि का प्रत्येक समय विचार और चिन्तवन करते हैं इसी की उन्नति में हर समय निमग्न रहते हैं जिस से संसार का उपकार करते हैं (येभ्यः) विद्वद्भ्यः (मधु) आनन्दोपलब्धि (प्रधावति) प्रवाह रूपेण शीघ्रं गच्छति अर्थात् जिन के लिये मधु मिठास आनन्द शान्ति मानो प्रवाहरूप से धावन करती है जिस के ज्ञानादि के द्वारा उन विद्वानों को आनन्द और शान्ति अच्छी प्रकार से प्राप्त होती है (तांश्चिदेव) पूर्वोक्तानेव, उन्हीं को ही जिन को सोमादि तथा अन्नादि ज्ञान तथा क्रिया यज्ञादि द्वारा शान्ति प्राप्त हुई है (अपि गच्छतात्) प्राप्नुहि, परमात्मा आशीर्वाद देते हैं कि तुम लोग ऐसे ही मनुष्यों को प्राप्त हो॥

ये चित् पूर्वे ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः ।
ऋषीन् तपस्वतो यमतपो जाँ अपि गच्छतात् ॥५।१५॥

(ये चित्) (पूर्वे ऋतसाताः) पूर्वस्मिन् जन्मनि ये ऋतेन ज्ञानेन साताः संभक्ताः (ऋतजाताः) ऋतेन सत्येन यज्ञेन ज्ञानेन वा जाता उत्पन्नाः (ऋतावृधः) ज्ञानेनैव सम्यक्तया वृद्धिं प्राप्ताः तान् (ऋषीन्) अतीन्द्रियार्थद-र्शिनस्तान् (तपस्वतः) तपसा युक्तान् (यमतपोजान्) यमादिनाप्राणायामेन वाँ समाधिस्थान् (अपि गच्छतात्) प्राप्नुहि अर्थात् उन विद्वानों को प्राप्त कर जिन्होंने पूर्व-जन्म में किये साधनों के द्वारा ज्ञान को उपलब्ध किया है और जो ज्ञानी यज्ञशील धर्मात्मा माता पिता के गृह में यज्ञादि के द्वारा ही उत्पन्न हुए हैं और जिन्हों ने ज्ञानादि के द्वारा ही अच्छी प्रकार वृद्धि प्राप्त की है, ऐसे मन्त्र द्रष्टा अतीन्द्रिय ज्ञानी विद्वानों को जो तपस्वी हैं और जिन्होंने यम नियमादि द्वारा समाधि को प्राप्त किया है उन को प्राप्त कीजियेगा ॥

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥६।१६॥

(ये) विद्वांसः (तपसा अनाधृष्याः) कृच्छ्रेणापि साधनेन अप्रधृष्या भवन्ति अर्थात् जिन को अनेक प्रकार कष्ट साध्य तप भी दबा नहीं सक्ते प्रत्युत अनेक प्रकार के कष्ट सह कर भी उन को प्राप्त करते हैं (तपसा ये स्वर्ययुः) ये च तपसा यागादि रूपेण साधनेन सः सुखं (ययुः) यान्ति प्राप्नुवन्ति अर्थात् जो विद्वान् ब्रह्मचर्य्य सत्यादि की प्राप्ति

करके आनन्द को प्राप्त करते हैं (ये) (च) (महः तपः) महत्पतेऽन्यैर्दुष्करं राजसूयाश्वमेधादिकं हिरण्यगर्भादि उपासनं वा (चक्रिरे) कुर्वन्ति अर्थात् और जो बड़े बड़े राजसूयाश्वमेधादि यज्ञ हैं उन को जो करते हैं (तांश्चिदेवापि गच्छतात्) उन को तुम प्राप्त करो ॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥७।१७॥

(ये) (प्रधनेषु) प्रकीर्णानि अस्मिन् धनानि भवन्ति इति प्रधनाः संग्रामाः तेषु (शूरासो) शौर्यवन्तो ये युध्यन्ते शत्रून् संप्रहरन्ति (ये) (तनूत्यजः) युद्धेषु ये शरीराणित्यक्तारो भवन्ति अर्थात् जो शूरवीर और अनेक प्रकार के युद्धों में वीरता दिखलाने वाले हैं और शरीर त्यागने वाले हैं अर्थात् पूर्ण क्षत्रिय हैं जो अपना धर्म इसी को मानते है कि युद्ध में प्राणों को त्याग देना ही परमपुरुषार्थ है (येवा) ये च (सहस्रदक्षिणः) सहस्रदक्षिणान् क्रतून् अनुष्ठितवन्तोराजानः (तांश्चिदेवापिगच्छतात्) अर्थात् उन महान् राजाओं को भी जो अनेक प्रकार की दक्षिणा वाले यज्ञ करते हैं अर्थात् जगदुपकारार्थ अनेक प्रकार धनादि का व्यय करने वाले धर्मात्मा राजाओं को प्राप्त कीजियेगा ॥

सहस्रनीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् । ऋषीन् तपस्वतो यम तपो जां अपिगच्छतात् ॥ ८ ॥ १८ ॥

(सहस्रनीथाः) सहस्र नयाः (कवयः) विद्वांसः अ-

र्थात् सहस्रों मनुष्य जिन के अनुगामी होते हैं जो अनेक मनुष्यों को शिक्षादि द्वारा सत्यमार्ग में चलाने वाले होते हैं ऐसे विद्वान् मनीषी (ये) (सूर्य्यम्) प्रकाशात्मकं ज्ञान-रूपं वेदं (गोपायन्ति) रक्षन्ति जो अपने तपो बल ब्रह्म-चर्य्यादि द्वारा वेदों की रक्षा करते हैं (तपस्वतः) तपसा ब्रह्मचर्येण युक्तान् (ऋषीन्) मन्त्र द्रष्टॄन् (यमतपो ज्ञान्) यम नियमादि साधनेन ब्रह्मचर्य्य निष्ठत्वेन द्वितीय जन्म-प्राप्तान् (अपिगच्छतात्) और जो मन्त्रों को साक्षात् जा-नने वाले तपस्वी हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य्यादि को यमनियम के द्वारा उत्तम रीति से द्वितीय जन्म प्राप्त किया है उनको प्राप्त कीजियेगा ॥

इन प्राप्ति के मन्त्रों से उत्तम रीति से ज्ञात हो सक्ता है कि क्या यह कदापि काल भी मृत परक लग सक्ते हैं हठ से अथवा धृष्टता से तो चाहे जो मानें परन्तु इन से स्पष्ट विदित होता है कि ज्ञान और कर्म की प्राप्ति के लिये पूर्वोक्त मनुष्यों की शरण लेनी ही अति आवश्यक है अन्य-था कदापि नहीं ॥

स्योनास्मै भव पृथिव्य नृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म स प्रथाः ॥ ९ ॥ १९ ॥

हे (पृथिवी) प्रथितेभूमे (अस्मै) यज्ञादि निष्ठाय म-नुष्याय (स्योना) सुख प्रदा, स्योनमिति सुख नामसु प-ठितं निघं० ३ । ६ ॥ (अनृक्षरा) न मनुष्यान् क्षरति या ए-तादृशी (निवेशनी) निविशन्ति सर्वे मनुष्यादयः प्राण धारिणो यत्र (भव) अर्थात पृथिवी पर वह लोग जो

उत्तम गुणों से संयुक्त हैं आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें, वह मनुष्यादि प्राणियों के नष्ट करने वाली न हो प्रत्युत अच्छे प्रकार निश्चयपूर्वक निवास देने वाली हो (अस्मै) (सप्रथाः) प्रख्यानं विस्तीर्णता तत्सहिता (शर्म) सुखं कल्याणम् (यच्छ) देहि अर्थात् अच्छे प्रकार फैली हुई पृथिवी उत्तम ज्ञान कर्म शील मनुष्यों को सुख के (अथ च) अनेक प्रकार के कल्याणों के देने वाली हो, इससे उपदेश किया गया है कि हे मनुष्यो ! यदि पूर्वोक्तरीत्यनुसार अपने जीवन को उत्तम पुरुषों के सत्संगादि में अर्पण करोगे तो यह विस्तीर्णवती पृथिवी अनेक प्रकार से सुख और आनन्दधाम बनेगी और सम्पूर्ण प्राणी इस में सर्वस्थानों में आनन्द से वास करेंगे ॥

असंबाधे पृथिव्या उरौ लोकेनिधीयस्व स्वधाया-
श्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ १० ॥ २० ॥

(असंबाधे) संबाधः संमर्दः तद्रहिते (उरौ) विस्तीर्णे (पृथिव्याः) (लोके) लोक्यमाने स्थाने (विधीयस्व) सम्यक्तया निवासं कुरु (स्वधाः) स्वम् आत्मानं दधाति पुष्णाति हर्षीषि च (याः) (जीवन्) जीवनम् (चकृषे) कुर्वन्ति (ताः) (ते) तुभ्यम् (मधुश्चुतः) मधु प्रवाह क्षारयित्र्यः उपलक्षणमेतत् मधु रस घृत सोमादि प्रवाहरूपाः (सन्तु) भवन्तु । अर्थात् यह जो पृथिवी अत्यन्त विस्तार वाली है जिस में अनेक प्रकार के सुखदायक उत्तम २ पदार्थ मिल सक्ते हैं उसमें प्रकाशयुक्त उत्तम स्थानों में अपने

आप को निवास करते हुए धारण, पोषण कर और स्वधा हवन यज्ञ जो कि आत्मा के पोषण करने वाले हैं और जो जीवन को उत्तम रीति से धारण के योग्य करते हैं वह अनेक प्रकार हवन यज्ञ उत्तम मधु रस घृत अन्न सोमादि औषधियों के उत्पन्न करने वाले हों जिन से मनुष्य जीवन उत्तम रीति से व्यतीत हो ॥

द्वितीय सूक्तम् ।

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि । सं गच्छस्व पितृभिः संयमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः ॥ १ ॥ २१ ॥

परमात्मा उपदेश करते हैं कि पुरुषों को साधनयुक्त होकर गृहस्थाश्रम को पालन करना अत्यावश्यक है और यही कारण है कि वेदानुकूल ग्रन्थों में गृहस्थ की अत्यन्त महिमा लिखी है, आज कल जो गृहस्थ की सर्वथा निन्दा की जाती है उसका कारण केवल यही है कि गृहस्थी लोग साधनयुक्त न होकर सम्पूर्ण गृह कार्य्यों को करना चाहते हैं इस से भी बढ़कर साधनशून्य बालकों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराने पर कटिबद्ध हो रहे हैं और यही कारण है कि इस समय गृहस्थ दुःखसागर बन रहा है, परन्तु वेद उपदेश करते हैं कि अहं परमात्मा (मनसा) सर्वात्मना (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (ह्वयामि) आह्वयामि नियोजयामि (इमान्) (गृहान्) पूर्वोक्तान् आतिथ्यादि

कार्य्यान् बुद्धिगतान् वा गृहकार्य्यान् (जुजुषाणः) प्रेम्णा सेवमानः (उपैहि) उपगच्छ सम्यक् प्रकारेण प्राप्नुहि । (पितृभिः) पूर्वोक्तैः विद्वद्भिः सह (संगच्छस्व) संगतो भव अर्थात् हे साधन शील पुरुष मैं सर्वात्मा से तेरे मन को (अन्तःकरण चतुष्टय को) निश्चयपूर्वक मुक्त करता हूं ताकि तू प्रेमपूर्वक सेवा का भाव धारण करते हुए पूर्वोक्त और अनेक आतिथ्यादि गृह कार्य्यों को अच्छे प्रकार पूर्ण कर और पूर्वोक्त ऋषि से आदि लेकर स्वधर्मयुक्त क्षत्रिय पर्य्यन्त विद्वानों को प्राप्त कर और (संयमेन) संयमनेन (स्योनाः) सुख प्रदाभव (वाताः) वायवेः दश प्रकारकाः प्राणाः (त्वा) त्वाम् (शग्माः) सुखकराः उपवान्तु) उपगच्छन्तु अर्थात् ब्रह्मचर्य्यादि द्वारा इन्द्रियों को दमन करते हुए संसार में सुख फैलाने वाला हो न कि विषयासक्त होकर दुःख का कारण बने अतएव परमात्मा आशीर्वाद करते हैं कि तुझ को दश प्रकार के प्राण जो शरीरादि आरोग्यता तथा सन्तानादि के उत्पत्ति के कारण हैं आनन्द देने वाले हों ॥

उत् त्वा वहन्तु मरुतः उदवाहा उदप्रुतः ।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु वालिति ॥२॥२२॥

(उदवाह) समन्नि व्यवहारात् मरुच्छब्देन वायुरिति उच्यते । (मरुतः) वायवः (उद्वहन्तु) ऊर्ध्वमाकाशे वहन्तु यतः (उदवाहा) उदकं वहन्ति धारयन्ति इति उदवाहा मेघाः (उदप्रुतः) उदप्लुत उदकैर्भूमिं प्लावयन्त आर्द्री

कुर्वन्तः, (शीतं कृण्वन्तः) शैत्य कुर्वन्तः (वर्षेण) वर्ष जलेन (उक्षन्तु) सिञ्चन्तु उक्ष सेचने (वाजं) सर्व उद्भिजादि पदार्थान् (इति) शब्दः समुच्चयार्थ बोधकः अतः (अजेन) सर्व बीजेन (त्वा) त्वां उद्वहन्तु इति शेषः ॥

इस मन्त्र में गृहस्थ के सर्व कार्य्य करणार्थ साधनों को बोध कराते हुए उपदेश दिया गया है और साथ ही साथ यह भी जतलाया गया है कि वायु ही मेघों को उत्पन्न करने वाला है जिस से शीतता आती है क्योंकि जल में शीतगुण की प्रधानता होती है जिस से वर्षा द्वारा सम्पूर्ण भूमि सींची जाकर सम्पूर्ण उद्भिज पदार्थों की उत्पत्ति होती है जिस से अन्न उत्पन्न होता है जो कि प्राणियों का प्राण (जीवन) होता है जैसे लिखा है "अन्नं वै प्राणिनां प्राणः" इस मन्त्र में दो शब्द विशेष ध्यान के योग्य हैं एक मरुत् और दूसरा अज, पुराणों में मरुत् वायु का देवता माना गया है और बावरोला उसका वाहन माना गया है कई पुराणों में तो मरुत् को रुद्र के पुत्र और किसी स्थान पर इन्द्र का भ्राता लिखा है यह देवता संख्या में ४९ माने गये हैं इनके अस्त्र शस्त्र कड़क और विद्युत् है, और अनेक प्रकार की गाथाएं मनमानी बनाई गई हैं और इसी प्रकार रुद्र भी आंधी आदि के देवता माने गये हैं जो संख्या में ११ हैं और इन की उत्पत्ति भी अनेक प्रकार के उपाख्यानों से प्रकट की गई है जिन से हमें कुछ तात्पर्य्य नहीं है, केवल यह प्रार्थना है कि मरुत से वह (*Monsoon*) लिये जाते हैं जिनको वर्षा लाने वाली वायु नाम से पुकारा करते हैं और जिनकी सी-

ना ४९ मील पर्य्यन्त है वह सदैव वेग से चलती है और जो मेघों को उत्पन्न करके विद्युत् रूप शस्त्र से उनको पृथिवी पर गिरा देते हैं और यह इन्द्र सूर्य्य के भ्राता के समान सहायकारी है इत्यादि अनेक प्रकार से तत्वतः जानना चाहिये और पौराणिक गप्पों को कदापि ध्यान नहीं देना उचित है क्योंकि पुराणकर्ताओं ने तत्त्व को सम्पूर्णतया भूलकर मनमानी गाथाएं जोड़ली हैं। जिस से वैदिक सिद्धान्तों को भी नष्ट भ्रष्ट करदिया है ॥

दूसरा अज शब्द है कि जिसपर विचार इस कारण आवश्यक है कि जहां कहीं यह शब्द आजाता है सायणाचार्य्यादि तत्काल ही बकरे के अर्थ कर इस प्रकार से अर्थों के अनर्थ कर देते हैं कि तत्त्व का विचार ही कठिन हो जाता है, इस मन्त्र में अज शब्द के बीज अर्थ हैं जिस के प्रमाण के लिये महाभारत स्पष्ट कहता है कि:—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकीश्रुतिः।
अज संज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हसि ॥
महा० । शा० । ३३७ अ० ॥

बीजों से अर्थात् अन्नादि के द्वारा यज्ञों को करना उचित है यह वेद की श्रुति है क्योंकि अज नाम बीजों का है इसलिये बकरे को कदापि मारना उचित नहीं है। शोक है कि विद्वान् लोग भी इन तत्त्वार्थों को किञ्चिन्मात्र भी नहीं विचारते और लोक प्रचलित कुकर्मों के ही पीछे चले जाते हैं ॥

उद्दह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितॄरुप द्रव ॥३॥ २३॥

(उद्दह्वम्) ददामि (आयुः) (आयुषे) पूर्णायुः प्राप्त्यर्थम् (क्रत्वे) यज्ञादि कर्मणे, अपानन व्यापारायच (दक्षाय) दक्षिणाय बलाय, प्राणन व्यापाराय च (जीवसे) जीवनाय, प्राणो वै दक्षो अपानो क्रतुः (इति तै० । सं० २ । ५। २ । ४) अर्थात् जगदीश्वर उपदेश करते हैं कि मैंने तुम लोगों की आयुस्थित करने के लिये यह वायु मण्डल और मेघ द्वारा वर्षा और उस से अन्नादि की उत्पत्ति की है अतएव तुम को मैं आयुः (मनुष्य आयु) जन्म देता हूं जिस से तुम पूर्ण आयु चारसौ वर्ष पर्य्यन्त, यज्ञकर्म और बल को प्राप्त करते हुए अथवा प्राणापान का साधन करते हुए जीवन को धारण करो जिस से (ते) त्वदीयं (मनः) (स्वाम्) आत्मानम् (गच्छतु) प्राप्नोतु (अधा) अथ (पितॄन्) पूर्वोक्तान् विदुषः (उपद्रव) समीपं गच्छ (द्रुगतौ) तेरा मन आत्मा तथा मुझ परमात्मा को प्राप्त हो इसलिये तुम विद्वानों की शरण को प्राप्त करो, इस मन्त्रमें स्पष्टतया उपदेश दिया है कि प्राणापान के व्यापार की उपासना करने से मनुष्य उत्तमतापूर्वक जीवन व्यतीत करता है और पूर्ण आयु चारसौ वर्ष पर्य्यन्त प्राप्त कर सक्ता है और साथ ही साथ इन्हीं प्राणापान के साधनों से मन बाह्य विषयों से हट कर अन्तरात्मा और परमात्मा के दर्शन करता है परन्तु इन सर्व की प्राप्ति के लिये साधनशील विद्वानों की शरण लेनी अत्यावश्यक है ॥

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।
मा ते हास्त तन्वः किं च नेह ॥ ४ ॥ २४ ॥

(ते) तव (मनः) मानसम् व्यापारं (मा) (हास्त) परित्याक्षीत् " ओहाक् त्यागे व्यत्ययेन आत्मने पदम् " । अर्थात् यदि तुम पूर्वोक्त प्राणापान के साधन नहीं करोगे तो आवश्यक है कि तुम्हारा मन यथार्थ विचारादि कर्तव्यों को त्याग कर तुम्हें उलटे मार्ग में लेजावे (असोः) प्राणस्य (मा हास्त) और कहीं प्राणों को ही न त्याग बैठो अर्थात् मृत्यु को ही प्राप्त न हो जाओ । (माङ्गानाम्) हस्तपादादि अङ्ग हीन हो जाओ (मारसस्यते) रुधिररूप रस का प्रवाह ही बन्द हो जावे क्योंकि प्राणापान के व्यापार के आधीन ही यह सर्व कार्य्य करते हैं, (इह) अस्मिन् जन्मनि (मा) (ते) तव (तन्वः) शरीरस्य (किंचन) किमपि (हास्त) परित्याक्षीत् ॥

इस मन्त्र में इस बातका उपदेश कियागया है कि यदि मनुष्य विना गुरु के प्राणापान का साधन आरम्भ करेगा तो सम्भव ही नहीं किन्तु आवश्यक है कि प्राणादि की क्रिया को रोकने अथवा अधिक होने से मन में शुद्ध संकल्प के स्थान में अनेक प्रकार के विकृतभाव उत्पन्न हो जावें और फिर प्राणों का संचार करने में असमर्थ होकर प्राणही नष्टकर बैठे अथवा किसी अङ्ग में प्राणों की गति के न होने से वह अङ्ग ही निकम्मा हो जावे और उस में रुधिर की गति ही रुक जावे अथवा इस शरीररूपी रथके अन्दर जो इन्द्रियें

हैं वह नष्ट होजावें इत्यादि अनेक प्रकार के विकार हो जाने सम्भव हैं इसलिये प्रथम ही साधनशील विद्वानों की शरण अत्यावश्यक है ॥

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ ५ ॥ २५ ॥

(त्वा) त्वाम् (वृक्षः) वनस्पत्यादयः सम्पूर्णोद्भिज्जपदार्थः (मा सं बाधिष्ट) सं बाधं हिंसनं माकार्षीत् "बाधृ विलोडने" (देवी) दानादि गुणयुक्ता वनस्पतिनामाश्रयभूता (मही) महती (पृथिवी) त्वदाश्रय भूता भुमिस्त्वां (मासंबाधिष्ट) अर्थात् जहां मनुष्यों को प्राण और अपान के साधन और उनके योग्य वर्त्तावों के जानने के लिये विद्वान् पुरुषों की शरण की आवश्यक्ता है वहां उसी प्राण और अपान की रक्षा के लिये वनस्पति के ज्ञान की भी अत्यावश्यक्ता है, क्योंकि मनुष्य से निकले अपान वायु को वनस्पति वृक्षादि धारण करके उससे अपना जीवन करती हैं और शुद्ध वायु को मनुष्यों के लिये बाहर निकाल कर मनुष्य के लिये प्राण वायु का संचार करती हैं जिसके लिये दान गुण से युक्त सम्पूर्ण पृथवी का ज्ञान अत्यन्त ज्ञातव्य है क्योंकि सम्पूर्ण वनस्पति पृथिवी परही उत्पन्न होती है और जो सम्पूर्ण प्राणधारियों के जीने का हेतु है, यावत् इस बात का बोध नहीं होता कि अमुक वनस्पति अमुक २ गुणों को रखती है और अमुक प्रकार की भूमि में उत्पन्न हो सकती है तावत् पूर्णतया उनका यथायोग्य वर्तना नहीं हो सकता

और जो विना जाने करते हैं अपने लिये और अन्य अनेक पुरुषों के लिये दुःख का कारण बनते हैं और उनकी और अपनी मृत्यु को भी प्राप्त कर बैठते हैं अतएव वेद मन्त्र का उपदेश है कि यह वनस्पति और उसका उत्पत्ति स्थान पृथिवी तुम लोगों की मृत्यु का कारण न हो, इसलिये तुमको (पितृषु यमराजसु) विद्वानों और उनके अधिपति मुख्य पुरुषों के (लोकम्) स्थानं समूहं वा, जहां कि वह लोग निवास करते हैं और सम्पूर्ण विद्याओं के जानने के साधन उपस्थित हैं अर्थात् गुरुकुलादि उत्तम स्थानों को जहां कि वह विद्वान् पुरुष वास करते हैं, (वित्वा) ज्ञात्वा अच्छी प्रकार जानकर (एधस्व) वर्धस्व उन्नति कीजियेगा जिससे सम्पूर्ण देश, लोक और जातिके दुःखों की निवृति हो सके। इस वेद मन्त्र में यह भी उपदेश दिया गया है कि ऐसे २ उत्तम स्थानों की हर प्रकार से वृद्धि करनी चाहिये । इस मन्त्र में एक शब्द है जिस पर नवीन पण्डित मनमानी कथा बनाने को उद्यत हो जाते हैं वह (यमराज) शब्द है। जिस का अर्थ पितरों का अधिपति है जिस प्रकार सोमको वीरुधादियों का अधिपति माना हुआ है जिन के प्रमाण मैं पूर्व लिख चुका हूं उसी स्थल में यह भी लिखा है कि:—

यमः पितॄणामधिपतिः स मावतु ॥ अथर्व० कां० ५ अनु० ५ सू० २४ मं० १४ ॥

यम पितरों का अधिपति राजा कहलाता है वह मेरी रक्षाकरे अर्थात् जिस प्रकार सोम को सम्पूर्ण औषधियों का

राजा माना गया है इसी प्रकार यम को भी पितर अर्थात् साधनशील विद्वानों का राजा माना गया है वह विशेष विद्वान् यम पद को पाता है जो पितरों में मुख्य होता है। पौराणिक चाहे जिस प्रकार से उपाख्यानों को जोड़ कर गप्पों को हांकते रहें परन्तु वैदिक सिद्धान्त यही प्रतीत होता है जो ऊपर वर्णन करने का साहस किया गया है ॥

यत् ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥ ६ ॥ २६ ॥

(यत्) (ते) तव (अङ्गम्) शरीरम् भोगायतनम् (अतिहितम्) अतिशय हितकारकम् (अपानः) (य उवा) अपिचयः (प्राणः) (ते) (प्राचैः) पूर्णं विद्वद्भिः ' प्रपूर्वात् अञ्चुगति पूजनयोः अस्माद्धातो औणादिके प्रत्यये कृते' (परेतः) प्रकर्षेण प्राप्तः, " परा पूर्वादिणगतौ " अर्थात् जो तेरे शरीर (भोगायत्न) मन, बुद्धि, इन्द्रिय संघात के लिये अत्यन्त हितकारक सुखदायक है वह प्राण और अपान आत्मिक वायु जिसको विद्वान् लोग बड़ी उत्तम रीति से प्राप्त करते हैं (ते) (पितरः) (सनीडाः) समान निलयाः, सम्यक् युक्ताश्च वा (तत्) (संगत्य) संप्राप्य (घासात्) अद्यते भुज्यतेऽस्मिन्निति घासः, तस्मात् घासात् एकस्माद्गृहात् ग्रामाद्वा अन्यस्मिन् (घासम्) गृहे ग्रामे वा (पुनः) द्वितीय वारं (आवेशयन्तु) आसमन्तात् प्रवेशयन्तु अभिप्रापयन्तु सर्वसाधारणान् मनुष्यान् स्वधर्मोपदेशार्थं वानप्रस्थाश्रमात्स-

न्यासाश्रमं प्राप्य पुनः गृहाश्रमस्थान् प्राप्नुवन्तु। अर्थात् वह पितर जिन्हों ने प्राण और अपान को सम्यक् प्रकार से जान लिया है अर्थात् जिन्हों ने योग साधन के द्वारा अपनी इन्द्रियों और अन्तःकरण को वश में कर लिया है मिलकर फिर गृहाश्रमी पुरुषों को उपदेश के लिये गृह २ में और ग्राम २ में भ्रमण करें ॥

इस मन्त्र में वेद में उपदेश दिया है कि कोई पुरुष यथार्थ रीति से उपदेश के योग्य नहीं होता जब तक वह वानप्रस्थाश्रम में प्राण और अपान का अच्छे प्रकार से साधन करता हुआ अपने मन और इन्द्रियों को वश में न करलेवे क्योंकि संन्यासी को फिर दूसरी बार गृहस्थी पुरुष स्त्रियों में मिलना होगा जहां कि दुर्बल, इन्द्रियों के वशीभूत मनुष्य पतित हो जाता है और उसको काम क्रोध लोभादि विषय पुनः दबा लेते हैं, इस कारण बड़े साधन और यत्न की आवश्यक्ता है जिस से कभी पतित होने की सम्भावना भी न हो सके साथ ही साथ अकेले को फिर भी आज्ञा नहीं दी गई एक अथवा न्यून से न्यून दो तो अवश्य होने चाहिएं जिससे अनेक प्रकार की रक्षा के अतिरिक्त एक दूसरे के कार्य्य में सहायता भी मिल सकती है ॥

इस मन्त्र में परेतः शब्द है जिस के अर्थ प्रेत के लिये जाते हैं जो कि कदापि नहीं हो सक्ते यदि कोई करना भी चाहे तो उस की धृष्टता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते क्योंकि यदि पितरों का कोई देश विशेष है तो प्रेत को वहां जाना है न कि शरीर शरीर में घूमते फिरना है

न्यासाश्रमं प्राप्य पुनः गृहाश्रमस्थान् प्राप्नुवन्तु। अर्थात् वह पितर जिन्हों ने प्राण और अपान को सम्यक् प्रकार से जान लिया है अर्थात् जिन्हों ने योग साधन के द्वारा अपनी इन्द्रियों और अन्तःकरण को वश में कर लिया है मिलकर फिर गृहाश्रमी पुरुषों को उपदेश के लिये गृह २ में और ग्राम २ में भ्रमण करें॥

इस मन्त्र में वेद में उपदेश दिया है कि कोई पुरुष यथार्थ रीति से उपदेश के योग्य नहीं होता जब तक वह वानप्रस्थाश्रम में प्राण और अपान का अच्छे प्रकार से साधन करता हुआ अपने मन और इन्द्रियों को वश में न करलेवे क्योंकि संन्यासी को फिर दूसरी बार गृहस्थी पुरुष स्त्रियों में मिलना होगा जहां कि दुर्बल, इन्द्रियों के वशीभूत मनुष्य पतित हो जाता है और उसको काम क्रोध लोभादि विषय पुनः दबा लेते हैं, इस कारण बड़े साधन और यत्न की आवश्यक्ता है जिस से कभी पतित होने की सम्भावना भी न हो सके साथ ही साथ अकेले को फिर भी आज्ञा नहीं दी गई एक अथवा न्यून से न्यून दो तो अवश्य होने चाहिएं जिससे अनेक प्रकार की रक्षा के अतिरिक्त एक दूसरे के कार्य्य में सहायता भी मिल सकती है॥

इस मन्त्र में परेतः शब्द है जिस के अर्थ प्रेत के लिये जाते हैं जो कि कदापि नहीं हो सक्ते यदि कोई करना भी चाहे तो उस की धृष्टता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते क्योंकि यदि पितरों का कोई देश विशेष है तो प्रेत को वहां जाना है न कि शरीर शरीर में घूमते फिरना है

और यदि जन्म लेकर पुनः यहां संसार में आना स्वीकृत है तो दूसरे केवल अविद्याजनक देश विशेष के मानने की क्या आवश्यकता पड़ी है और फिर क्या मृत शरीर में भी कभी अपान और प्राण का सञ्चार होता है और यदि प्राण माना जावे तो उसको कोई विद्वान् मृत कह सकता है क्योंकि प्राणों के सञ्चार का ही तो नाम जीवन है अतएव इस के विपरीत भाव कपोल कल्पित ही हैं तत्वतः नहीं ॥

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः । मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥ ७ ॥ २७ ॥

(जीवाः) जीववन्तः प्राणधारिणो मनुष्याः (इमम्) तां पूर्वोक्तम् प्राणापानात्मकं वायुं जीवनसाधनम् (अपारुधन्) 'रुधिर आवरणे' नियमेन धारयन्तु अर्थात् मनुष्य लोग अच्छे प्रकार जीवन धारण की आकांक्षा करते हुए प्राण और अपान को नियम पूर्वक रोकें (धारण करें) कब और उस के लिये कौन स्थान होना चाहिये (गृहेभ्यः) गृहस्थाश्रमात् (निर्वहत) निर्गत्य (ग्रामात् ग्रामादपि (परीतः) दूरे गत्वा वन प्राप्य अर्थात् गृहस्थाश्रम में तो संन्यासी विद्वान् लोग गृहस्थ के कर्त्तव्यों को पालनार्थ स्वयं आकर उपदेश करें ताकि सर्वाश्रमियों को भोजन छादन सम्यक् प्रकार से मिल कर अच्छी प्रकार उन की रक्षा हो सके परन्तु नियम पूर्वक प्रणायामादि साधनों के लिये गृहस्थाश्रम से पृथक् होकर और ग्रामादि से जहां कि पुरुष स्त्री बाल बच्चे अनेक प्रकार की क्रियाएं करते हुए मनुष्य को स्वधर्म में रत

नहीं रहने देते उन से भी दूर वन में जाकर जहां की वायु दैव ने ही शुद्ध और पवित्र बनारखी है और जल, वनस्पति सम्यक् प्रकार से अपने पवित्र यौवन को धारण करती हुई फल मूल कन्द मनुष्य जीवन का हेतु बनाती हैं उनको ग्रहण करे क्योंकि (मृत्युः) (यमस्य) परमात्मनो (दूतः) (आसीत्) अस्ति अथवा (यमस्य) प्राणात्मनो वायोः 'यम परिवेषणे' सम्यक् प्रकारेण प्रवेशनात् वायुर्यमस्यार्थः (मृत्युः) ज्ञानं कर्म च, " मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानञ्च मृत्यु शब्दवाच्यमुभयम् " (शं० ई० उप० भाष्ये) अर्थात् यम परमेश्वरका दूत मृत्यु प्रत्येक समय हमारे प्राणों को हरने के अर्थ हमारे पीछे लगा हुआ है और जिस से छूटना मनुष्य का कर्त्तव्य है ताकि अमर होकर मुक्ति को प्राप्त हो और ईश उपनिषद् के भाष्य में शङ्कराचार्य्य जी मृत्यु शब्द के अर्थ ज्ञान और कर्म के करते हैं जिसका वर्णन पूर्व मन्त्रों में किया गया है अर्थात् (यम) परमात्मा अथवा प्राणों के दूत (कर्म कर) साधक है जिससे मनुष्य अनेक प्रकार के दुःख, क्लेश और रोगों से छूट सक्ता है इसलिये (प्रचेतः) प्रकृष्टज्ञः पुरुषः (असून्) प्राणान् जीवनम् (पितृभ्यः) (गमयाम्) प्राप्त्यर्थमर्पणम् (चकार) करोतु अच्छी प्रकार से जानने वाले अपने प्राणों को पितरों के अर्पण करें ॥

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति। परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्रधमाति यज्ञात् ॥ ८ ॥ २८ ॥

(ये) (दस्यवः) उपक्षयकारिणो राक्षसाः (ज्ञातिमुखाः) ज्ञातिना मुखमिव मुखंयेषां ते तथोक्ता ज्ञातिप्रतिरूपाः केवल बाह्यस्वरूपेण पितृसदृशाः (पितृषु) (प्रविष्टाः) (अहुतादः) अहुतं देवयज्ञं विनैव अदन्ति भक्षयन्ति ते अहुतादः (चरन्ति) विचरन्ति निवसन्ति अर्थात् वेद उपदेश करते हैं कि यदि कोई दुष्ट पापी मनुष्य वानप्रस्थियों का वेश धारण करते हुए बाह्याकृति से उन जैसे प्रतीत होते हुए काषायादि वस्त्र धारण करते हुए पितरों में संमिलत हो जावें और जो देवयज्ञादि करने के विनाही भोजन कर लेते हैं अर्थात् जिन को स्वाश्रम के कर्त्तव्यों का पालन करने का किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं है अथ च (परापुरः) परागतः पूः यस्य, दुर्बलोदुर्बुद्धिर्वा पुरुषः (निपुरः) निर्गतो निकृष्टो वा शरीरं बुद्धिर्वा यस्य (ये) (भरन्ति) धारयन्ति (अग्निः) अग्निं यज्ञादि क्रियां (तान्) (अस्मात्यज्ञात) वानप्रस्थाश्रमात् स्वनिवासादिस्थानात् (प्रधमाति) प्रकर्षेण निर्गमयति निर्गमयतु वा विद्वद् श्रेणिरित्यर्थः । अर्थात् जो दुर्बल और दुर्बुद्धिपुरुष हैं और जो शरीरादि और बुद्धि को ब्रह्मचर्य्यादि व्रतों के धारण न करने से नष्ट कर ते हैं चाहे वह अग्निहोत्रादि कर्म भी करते हैं तो उनको वह विद्वान् लोग अपने यज्ञादि से बाहर निकाल देते हैं अथवा निकाल देवैं । इस मन्त्र में उपदेश दिया गया है कि वानप्रस्थिओं का जहां उत्तम क्रियादि के द्वारा उन्नति करना है वहां इस बात का भी अवश्य ध्याद रखें कि कोई केवल बाह्य आकृति को धारण करने वाला पापी अथवा

वामी दुर्बुद्धि दुर्बलादि निकृष्ट गुणों से युक्त मनुष्य उन में न रहे ताकि उनके साधनों में किसी प्रकार से भी विघ्न न पड़ सके और उन को विपरीतमार्ग में ले जाने का कारण हो कर आश्रम में दुःख और क्लेश का कारण न हो और उन दुष्ट पुरुषों के आचरणों से ब्रह्मचर्य्यादि व्रतधारी विद्यार्थियों पर उन के आचार व्यवहार का खोटा प्रभाव न पड़े ॥

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः । तेभ्यः शकेम हविषा नमस्यमाण ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरुचीः ॥९ ॥ २९

(इह) अस्मिन् गृहस्थाश्रम रूप यज्ञे (स्वाः) अस्माकम् (पितरः) (संविशन्तु) सम्यगुपविशन्तु उपविष्टास्ते (स्योनम्) सुखम् (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (नः) अस्माकम् (आयुः) जीवनम् (प्रतिरन्ते) प्रवर्धयन्तु (प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः) अर्थात् जहां पूर्व मन्त्रों में पितरों के लिये उपदेश है कि वह पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय होकर गृहस्थ पुरुषों को उपदेशार्थ फिरें, ग्रामों में जावें परन्तु दुष्ट पापी दुराचारी उन के साथ न रहने पावें वहां गृहस्थियों के लिये भी उपदेश है कि वह यदि उन के ग्रामों और गृहों में आवें तो उन से उपदेशादि द्वारा अपने जीवन को सुधारें और उन से हर प्रकार से अपने सुख और शान्ति के उपाय जानते हुए अपने जीवन को चिरकाल पर्य्यन्त स्थिर रखने का प्रयत्न करें इसलिये यह उपदेश है कि गृहस्थरूप यज्ञ में हमारे पि-

तर लोग आनन्दपूर्वक प्रवेश करें अत्यन्त श्रद्धा से हम उन का स्वागत करते हैं जिस से वह पितर हमें आनन्द और शान्ति देवें और उपदेशादि द्वारा हमें आयु की वृद्धि के उपाय बतलावें जिस से (नक्षमाणाः) दक्षमाणावर्धमाणा-वयम् (पुरूचीः) बहूनीः पुरु बहुलमञ्चन्ति गच्छन्तीति पुरूचीः "अञ्चतेः ऋत्विग् दृङ्ग्' इत्यादिनाक्विन्, 'अविदिताम्' इति न लोपः, 'अचः' इत्यकारलोपः 'चौ' इति दीर्घः 'अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्' इति ङीप्" (शरदः) संवत्सरान् (जीवन्तः) (तेभ्यो) पितृभ्यः (हविषा) अन्नमहैः फल-मूलान्नादिभिः पदार्थैर्दातुं योग्यैः 'हु दानादनयोः आदाने चेत्येके, (ज्योग्) चिरकालं पर्यन्तम् (शकेम) परिचरितुं शक्ता भूयास्म अर्थात् सर्व प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हमलोग चिरकाल पर्यन्त जीवन धारण करते हुए पितरों की अन्न फल मूल और और देने के योग्य वस्तुओं से बहुत वर्षों तक उनकी सेवा सुश्रूषा करने के योग्य बन सकें ॥

इस में स्पष्ट उपदेश है कि गृहस्थी लोग उत्तम साधनों से धन ऐश्वर्य आयु बल को उपलब्ध करते हुए पूर्ण श्रद्धायुक्त पितरों की अन्नवस्त्रादि से सेवा करें जिस से उन को सुख और शान्ति प्राप्त हो और उत्तम आचार देश में फैल कर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के योग्य बन सकें ॥

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता योत्रा सदजीवनः ॥ १० ॥ ३०

(याम्) (धेनुम्) दोग्ध्रीं गाम् (ते) तुभ्यम् (निप-

णामि) प्रयच्छामि (यम्) (उ) च (क्षीरः) पयो दुग्धम् (ओदनम्) (ते) तुभ्यम् निपृणामि (तेन) (आजनस्य) आश्रित पुरुषस्य (भर्ता) धारयिता पोषयिता वा (असः) भवेः (यः) (अत्र) गृहाश्रमे गृहे ग्रामे वा (अजीवनः) (असत्) भवेत् प्राण धारणेऽसमर्थो योत्रागत्य न भुङ्क्ते, तस्य कस्यचित्प्राणरक्षार्थं गां क्षीरमोदनञ्च निपृणामि तुभ्यमित्यर्थः । अर्थात् वह विद्वान् जो ग्राम २ में फिर कर उपदेश देने के असमर्थ हैं और जो जीर्ण अवस्था को प्राप्त हो कर गृहस्थिओं के पास नहीं आसक्ते और जो दूसरे विद्वानों के आश्रय जीवन व्यतीत करते हैं अथवा और कारणों से गृहस्थियों के पास नहीं जासक्ते उन का भी हे विद्वन् पालन और पोषण कीजियेगा जिस लिये मैं गृहस्थी गौ, क्षीर और ओदनादि अन्न देता हूं ॥

इस मन्त्र में यह भी उपदेश दिया गया है कि गृहस्थिओं का केवल वानप्रस्थ और ग्राम २ में उपदेश करने वाले संन्यासियों का ही पालन करना कर्त्तव्य नहीं है प्रत्युत उन विद्वानों के लिये भी पूर्ण रीति से प्रबन्ध अत्यावश्यक है जो जीर्ण अवस्था को प्राप्त होने के कारण दूसरे विद्वानों के आश्रित जीवन व्यतीत करते हैं और जिन के दन्तादि स्खलित हो जाने के कारण अथवा और अनेक कारणों से उन के लिये भोजन आदि का प्रबन्ध किया जाता है, इसलिये गृहस्थ उन उपदेष्टाओं के द्वारा अथवा स्वयं वहां जाकर उन दूसरे विद्वानों को गौ, क्षीर और ओदनादि अन्न पहुंचाया करें जिन से उन आश्रित विद्वानों का निर्वाह उत्तम रीति से हो सके ॥

अश्वावतीं प्रतरं या सुशेवाक्षाकं वा प्रतरं नवीयः। यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ॥ १ ॥ ३१ ॥

(अश्वावतीम्) अश्नुते व्याप्नोतीति अश्वो वह्निः, अजादि पाठात् स्त्रियामश्वा, अश्वा अस्यां सन्तीति अश्वावतीम् (प्रतर) प्रकर्षेण उत्तीर्णोभव (या) (सुशेवा) सुसुखा भवतु (वा) अथ च (नवीयः) नवयं नवतरमदृष्टपूर्वम् (ऋक्षाकम्) ऋषति गच्छतीति ऋक्षो नक्षत्र सामान्यं वा (प्रतरम्) यत्र विशेषेण ज्ञातुं योग्यं जानीहि। अर्थात् इस मन्त्र में उपदेश किया गया है कि हे विद्वन् पितरो प्रत्येक अग्नि सम्बन्धी वस्तुओं को उत्तीर्ण करो जिस के ज्ञान से अनेक प्रकार से देश और जाति में सुख की प्राप्ति हो और नवीन २ नक्षत्रों के ज्ञान की उपलब्धि करो जिस से तुम्हारे ज्ञान और प्रयत्न की उन्नति नित्यप्रति होती रहे। (यः) (त्वा) त्वाम् (जघान) स्वकर्तव्यपालने बाधा पीड़ा कुर्य्यात् (वध्यः) वधार्हो हन्तुमर्हः (अस्तु) भवतु। अर्थात् यदि कोई पुरुष विशेष इस प्रकार विद्यादि की उपलब्धि में बाधा (रुकावट) अथवा पीड़ा देवे तो वह पुरुष मारा जाने के योग्य होगा अर्थात् राज का कर्त्तव्य होगा कि विद्वान् पुरुष जो इस प्रकार वनों में रहकर अनेक प्रकार की विद्या की उन्नति में लगे हुए हैं और अनेक प्रकार की नूतन २ ज्ञान की वृद्धि मे तत्पर हैं उन की प्रत्येक प्रकार से रक्षा की जावे और यदि कोई दुष्टजन अथवा अन्य कोई सिंहादि उन के कार्य्य में बाधा डाले तो वह मारा जाना

अत्यावश्यक है क्योंकि ऐसा यदि नहीं किया जावेगा तो (सो) पूर्वोक्तो विद्वान् (अन्यद्) पूर्वज्ञातात् अन्यद् (भागधेयम्) उपभोग्यं वस्तुं देशेषु मनुष्येष्वत्यन्तोपभोग्यं वस्तुम् (मा विदत) ज्ञातुमुद्यतो कदापि न भविष्यति अर्थात् वह विद्वान् पुरुष और अनेक उत्तम वस्तुओं के जानने के लिये जो कि देश में और सम्पूर्ण मनुष्यों को अनेक प्रकार के सुखों के देने वाली वस्तु हों कदापि यत्न और पुरुषार्थ नहीं करेंगे और किसी प्रकार की उन्नति विद्या में नहीं होगी, इसलिये उन विद्वानों की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है जिस से अनेक प्रकार की नूतन वस्तु नक्षत्रादि ज्ञान से सुख और आनन्द फैले ॥

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किंचन । यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वातताम ॥ २ ॥ ३२ ॥

सूर्य्य को सर्वोत्तम और सबका केन्द्र बतलाने के लिये अगले दो मंत्र वर्णन किए गये हैं। (यमः) अग्निरपि यम उच्यते निरुक्तं अ० ४ खं० २० (विवस्वान्) विवस्वानादित्यः निरुक्त अ० १२ खं० ५० (परः) उत्तमः (वरः) श्रेष्ठः परमोत्कृष्टः (ततः) तस्मात् (परम्) उत्कृष्टम् (किञ्चन) किमपि यज्ञसाधकम् (नातिपश्यामि) अतिक्रान्तं न जानामि नास्ति उत्कृष्टतरो जगतीतिभावः। अर्थात् जगत् पिता हम सर्व जनों को उपदेश करते हैं कि जिस प्रकार अग्नि सर्व मनुष्यकृत यज्ञों का साधक है इसी प्रकार संसार में अग्नि पुञ्ज सब

से उत्कृष्ट आदित्य है जिससे बढ़कर इस जगत में कोई दैवी पदार्थ यज्ञ साधक नहीं है इसी कारण (यमे) आदित्ये, आदित्य रश्मिषु अग्नौ वा (मे) (अध्वरो) यज्ञः (अधिनिविष्टः) अधिकमवस्थितः प्रविष्टो वा यतः (विवस्वान्) आदित्यः (भुवो) भूप्रदेशान् (अन्वाततान) स्वकिरणैर्विस्तारितवान् ' तनु विस्तारे ' अर्थात् यह संसाररूपी यज्ञ जिस से अधिष्ठातारूप से मैं सर्व कार्यों को करने वाला हूं। सूर्य्य, सूर्य्यकिरण अथवा अग्नि में अच्छे प्रकार से निविष्ट है अर्थात् अवस्थित है जिससे सूर्य्य सम्पूर्ण जगत् में किरणों के द्वारा विस्तृत हो रहा और जगत् के भिन्न २ भूतों को विस्तृत कर रहा है ॥

इस में अच्छे प्रकार से उपदेश दिया गया है कि जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ घृतादि अनेक हव्य विशेष जगत् में अग्निद्वारा विस्तृत होता है उसी प्रकार मेरा सर्वोत्तम अग्नि पुञ्ज सूर्य्य अपनी रश्मिओं के द्वारा सम्पूर्ण जगत् में यज्ञ कर रहा है और सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों में अपनी किरणों के द्वारा प्रवेश करता हुआ उनको विस्तृत कर रहा है, जल, वायु, वनस्पति और अनेक प्रकार के सम्पूर्ण पदार्थों में और विशेष कर के सारे सौरजगत् को ही एक नियम में रख रहा है।

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते। उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ३ ॥ ३३ ॥

(अमृताम्) मरणधर्म रहितां नाशरहितां ज्योतिम् (अपागूहन्) आवरणाच्छादनेभ्यः पृथक् कृत्वा (मर्त्येभ्यः) मरण धर्मेभ्योमनुष्यादिभ्यः (सवर्णां कृत्वा) वर्णसहितं कृत्वा (विवस्वते) आदित्याय (अदधुः) अधारयत् प्रायच्छत अर्थात् परमात्मा ने अपनी ज्योति को जो कि अमृतरूप है और जो सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व तिरोभावावस्था में थी प्रकट करते हुए सम्पूर्ण आवरणों से रहित कर मनुष्यादि मरणधर्म वाले प्राणियों के हितार्थ वर्ण सहित करके सूर्य्य के लिये धारण किया, तात्पर्य्य यह है कि यह जो सूर्य्य के अन्दर ज्योति है वह परमात्मा की स्वयं ज्योति है जो कि अग्नि पुञ्ज सूर्य्य को दी गई और साथ ही साथ यह भी उपदेश है कि यह वर्ण सहित अर्थात् रूपवाली है इसमें विशेष गुण रूप दिया गया है और संपूर्ण प्राणियों के सुखार्थ यज्ञ-रूप रची गई है। (उत) अपि च (तदा) तदानीम् (यत्) (आसीत्) स्थित गुण विशिष्टमासीत् पूर्व सृष्टौ (आश्विनौ) प्रतिश्च प्रकाशश्च द्विगुणात्मकौ किरणौ (अभरत्) समभरत् उत्पादयत् (सरण्युः) सरणात् गमनात् सरण्युः किरणाख्यम् (द्वा) द्वौ गुणौ (मिथुना) मिथुनौ (अजहात्) पर्यत्यजत 'ओहाक् त्यागे' उ शब्दोऽवधारणे ॥ अर्थात् जो सृष्टि उत्पत्ति काल से पूर्व उपस्थित थी और जिस में किसी प्रकार की गति अथवा प्रकाश नहीं था उस समय द्विगुणात्मक को धारण किया जिससे गमन गुण प्रधान किरणें इन पूर्वोक्त दोनों प्रकार के जोड़े को जगत् में (त्यागने) विस्तार करने का कारण बनीं। इस मन्त्र में यह स्पष्ट

दिखलाया गया है कि सूर्य्य की उत्पत्ति से पूर्व किसी प्रकार का प्रकाश अथवा गति नहीं थी जब सूर्य्य में यह दो प्रकार के गुण उत्पन्न हुए तो उन्हीं गुणों को लेकर सूर्य्य की किरणें निकलीं जिन्होंने सूर्य्य से जुदा होकर सृष्टि भर में उन दोनों गुणों को विस्तृत किया, संपूर्ण सृष्टि में गति फैलादी अर्थात् पृथिवी आदि ग्रहों और उपग्रहों को अपने गिर्द घुमाना आरम्भ किया और उन को अन्धकार से प्रकाशमय कर दिया।

इस पर जो भाष्य सायणाचार्य ने किया है उस को पढ़कर अनेक प्रकार की हंसी और रोना आता है, न जाने यह पौराणिक उपाख्यानों को वर्णन करने वाले क्यों नहीं विचारते वह एक अपूर्व गाथा है, कि सूर्य्य देवता की सरण्यु स्त्री थी जो कि त्वष्टा प्रजापति की पुत्री थी उन ने सूर्य्य से विवाह कर यम और यमी को उत्पन्न किया, तत्पश्चात् सूर्य्य के तेज को न सहन करती हुई अपने समान रूप वाली किसी दूसरी स्त्री को सूर्य्य के पास रख कर स्वयम् वहां से चली गयी। और जाकर उत्तर कुरु में घोड़ी का रूप धारण कर वहां वन में रहने लगी, जिस के पश्चात् सूर्य्य ने भी इस धोखे से अभिज्ञ होकर घोड़े का रूप बना कर अपनी स्त्री की अन्वेषणा करनी आरम्भ की अन्त में उस घोड़ी का रूप धारण की हुई अपनी स्त्री को वन में पा कर उस से वहीं सम्बन्ध किया जिससे अश्विनीकुमार जो कि देवताओं के वैद्य हैं उत्पन्न हुए इत्यादि आप विद्वान् स्वयं ही विचारें कि यह गाथाएं कहां तक स्वीकार करने के

योग्य हैं, सूर्य और उस का उत्तर कुरु के बन में अश्वरूप में आकर यह कार्य्य करना, पौराणिक विद्वान् ही उत्तर देंगे किस प्रकार लाखोंगुणा इस पृथिवी से बड़ा सूर्य एक अश्व के रूप में आकर उत्तर कुरु में घास आदि चरता रहा और किस प्रकार कामवश होकर बन में भ्रमण करता रहा, न जाने उतने काल पर्य्यन्त पोपजी ने कोई और सूर्य्य बना कर जगत् में रख दिया होगा व योंकि सम्पूर्ण सौर जगत् केवल उस के द्र के सहारे ठहरा हुआ है, क्या कहें ऐसी २ अश्लील झूंठी कथाओं को मनमाने ढंग से रचा गया है कि रोना आता है कि वेद के भाष्याचार्य्य क्या २ वेद के अर्थ सृष्टि के सम्मुख दिखला रहे हैं। अस्तु, उन की इच्छा— परन्तु तत्वविचारशील उत्तमरीति से शीघ्र ही अभिज्ञ होकर इस भ्रम जाल से निकलने का साहस अवश्य ही करेंगे।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥४॥१४॥

(ये) (निखाताः) खन धातोः क्तः 'नपुंसकेभावेः' भावे क्तः खननमेव खातं ततो बहुव्रीहिः—नि-नितरां खातं खनन विषयक विज्ञानं येषां ते। (ये) (परोप्ताः) वप धातोः भावेक्तः ततो बहुव्रीहिः, प्रकर्षेणोत्तमरीत्या बीजसन्तान विषयक विज्ञानं येषां ते (ये) (दग्धाः) वि पूर्वक दहधातोर्ज्ञानार्थः 'वैदग्धकीर्त्तिमपहन्तुमसौ समर्थः' वै दग्धमुखमातण्डः, इत्यादि प्रमाणैः सम्यक्तयाज्ञायते, 'ज्ञानदग्धशरीराणां पुनर्दाहो न विद्यते' अथवा दहनं दग्धं भावेक्तोऽतो

अच, 'अर्श आदिभ्यो अच्' दहनविषयक ज्ञाननिपुणाः (ये) (च) (उद्धिताः) उत्कृष्टं हितं धारणं विषयक ज्ञानं येषां ते अर्थात् जो खनन विषयक विज्ञान में अच्छे प्रकार से निपुण हैं वह निखाताः पितर कहलाते हैं, प्रश्न किया जाता है कि क्या ओडादि जो मट्टी खोदने आदि के काम करते हैं ? नहीं किन्तु वह विद्वान् जो खान आकर विद्या में निपुण हैं मजदूर लोग मूर्ख होते हैं उन को कोई विद्वान् नहीं कह सक्ता, इस समय अनेक विद्वान् पुरुष हैं जो पृथिवी को खोदने से इस प्रकार ज्ञानी हो गये हैं कि वह बाहर से ही पृथिवी की बनावट को देख कर बतला सक्ते हैं कि इस भूमि के भीतर किस २ प्रकार की धातु हैं, सोना चांदी आदि की आकरों को जानते और उस से लाभ उठाते हैं उन को अङ्गरेजी के एक शब्द से *Mineralogist* कह सक्ते हैं और इसी प्रकार परोप्ताः जो बीजों की विद्या में अर्थात कृषि विद्या में निपुण हैं उन को अपनी वाणीमें अत्युत्तम माली कह सक्ते हैं और पदार्थ विज्ञानिक भाषा में उनको *Botanist* कहते हैं इसी प्रकार दग्धाः जो दाह करने की विद्या में अच्छे प्रकार से निपुण हैं जिन को *Chemist* कहते हैं और उद्धिता जो धारण करने की विद्या में निपुण हैं जिसको इल्मे जरे सकील कहते हैं और *Mechanist* कहते हैं इस प्रकार के पितर जो हैं (तान्) (सर्वान्) (पितॄन्) विदुषः (अग्ने) परमात्मन् (हविषे) दातुमर्हे (अत्तवे) भोजनाय (आवह) आसमन्तात् प्रापय अर्थात् हे परमात्मन् हम पूर्वोक्त सम्पूर्ण विद्वानों को अन्न वस्त्रादि से पालन करें

जिस से वह विद्वान् अनेक प्रकार की विद्याओं का देश और जाति में संचार कर के धन और ऐश्वर्य्य को बढ़ावें ॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥ २ ॥ ३५ ॥

(ये) पितरः (अग्निदग्धाः) अग्नि विज्ञान चतुराः (ये) (अनग्निदग्धाः) न अग्निः अग्निः, अनग्निर्जलादि ज्ञान चतुराः (मध्ये दिवः) द्युलोकस्य आकाशस्य मध्ये (स्वधया) स्वकीयपदार्थ धारण क्रियया (यजुर्भाष्ये १९ । ६०) (मादयन्ते) हृष्टा वर्तन्ते, (तान्) पूर्वोक्त गुण विशिष्टान् हे (जातवेदः) जातेषु जनेषु ज्ञानिन् विद्वन् (यजुर्भाष्ये १९ । ३९) जाता वेदः प्रज्ञा यस्य तत्संबुद्धौ (यजुर्भाष्ये १९ । ६७) (त्वम्) (तान्) (यदि) (वेत्थ) जानासि त्वमेव तान् ज्ञातुम् शक्तोऽसि (ते) सर्वे (स्वधया) अन्न जलादिभिः (स्वधितिम्) स्वैः सम्बन्धिभिः पुत्रादिभिर्ज्ञातिभिर्वा हितं विहितं कृतमीदृशम् (यज्ञम्) (जुषन्ताम्) प्रीत्या सेवन्ताम् । स्वधेति अन्ननामसु पठितं निघं० २ । ७ । स्वधेति उदकनामसु पठितं निघं० १ । १२ । (यजुर्भाष्ये १९ । ३६) अर्थात् वह पितर विद्वान् पुरुष जो अग्नि विज्ञान में निपुण हैं और जो विद्वान् अग्नि से भिन्न जल वायु आदि के विज्ञान में चतुर हैं और जो आकाश में अपने पदार्थों की धारण रूप क्रिया से आ-

नन्द से विचरण करते हैं, हे विद्वन् पितरो में मुख्य ! इन पूर्वोक्त सब को आप ही सम्पूर्ण रीति से जान सक्ते हैं वह सर्व विद्वान् हमारे अन्न जलादि से जो रचा यज्ञ है उस को प्रीतिपूर्वक सेवन करें अर्थात् उस में वह पधार कर हम गृहस्थिओं को अनेक प्रकार से शिक्षादि द्वारा अपने उपदेशों से कृतार्थ करें जिस से हम भी उन के आचरणों से अपने जीवन में उसी प्रकार से सुख प्राप्ति के हेतु स्वकर्त्तव्य पालन करने में तत्पर हो कर कृत कार्य्य हो सकें ॥

इन मन्त्रों के अर्थ स्वबुद्धि और विद्या के अनुसार और ऋषि के स्थान २ और भाष्यादि में दिये हुए शब्दार्थों की सहायता से मैंने दिखलाने का साहस किया है कि एक दो मन्त्रों से ही ऋषि का सिद्धान्त प्रकट नहीं होता प्रत्युत सम्पूर्ण मन्त्रों से एक प्रकार से क्रम पूर्वक पितृयज्ञ की आज्ञा विदित होती है जिस से विद्वान् पुरुष और सूक्ष्म द्रष्टा विचार करते हुए अनेक प्रकार के उपदेशों को प्राप्त करसक्ते हैं इन ३५ मन्त्रों में आरम्भ से अन्त पर्य्यन्त कहीं भी मृत शब्द नहीं दिखाई पड़ता जिस से शंका की भी सम्भावना हो सके, नवीन पण्डित लोगों ने मनमाने अर्थ कर के अस्मदादि अल्प ज्ञानियों को उलटे मार्ग में लेजाने पर अनेक प्रकार से प्रेरणा की है और जहां कहीं धेनु शब्द आगया वहां से मृत पितरों के निमित्त गोदान अर्थ कर दिया और यदि कहीं वेद में तर शब्द दिखलाई दिया तो झट वैतरणी नदी के अर्थ कर के उस से पार जाने के अर्थ कर दिये, और भी अनेक भ्रम जनक गाथाओं को बनाकर अनेक

प्रकार से साधारण पुरुषों को स्वच्छ मार्ग से हटाकर गढ़े में डालने का कारण बने। विद्वान् पुरुषों को स्वयं एक २ शब्द के अर्थों को विचार कर वेदमन्त्र के तत्व को जानने का पुरुषार्थ करना अत्यावश्यक है, मैं जानता हूं कि यह अर्थ सर्वथा मन्तव्य कोटि में नहीं हो सकेंगे तौभी मैं विद्वानों के केवल विचारार्थ इन अर्थों को प्रकट करना चाहता हूं जिस से अन्य कई विद्वानों के विचारों से मैं लाभ उठाने में कृतकृत्य हूं और स्वविचार को भी यथार्थार्थ अन्दोलना में लगा सकूं ॥

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट विदित हो गया कि जिन २ भावों को ऋषिने सत्यार्थप्रकाशादि स्वरचित ग्रन्थों में व्याख्यानों की रीति से वर्णन किया है वही विषय इन मन्त्रों में क्रमपूर्वक वेद ने उपदेश किया है मानो ऋषिने इन मन्त्रों के संक्षेप से अर्थ ही कर दिये हैं, शोक इस बात का अवश्य है कि यद्यपि इन ३५ मन्त्रों में एक भी शब्द इस प्रकार का नहीं दिखलाई देता जिससे मृत पितरोद्देशकश्राद्ध के अर्थ लिये जा सकें तौ भी पंडित लोगों ने मनमाने अर्थ करनेमें किञ्चिन्मात्र भी संकोच नहीं किया है प्रत्युत वेदार्थ करते हुए अनेक प्रकार की पौराणिक गाथाओं को प्रमाण में दिखलाते हुए अपने अर्थों की पुष्टि की है, चाहिये यह था कि वेदमन्त्रों के स्वतन्त्रतया अर्थ करते हुए पौराणिक सत्य और असत्यका विचार करते, क्योंकि वेदार्थ के आश्रय ही सर्व सत्यासत्य का विचार निर्भर है न कि पौराणिक उपाख्यानों के सहारे वेदार्थ का निर्णय, आज कल पंडित लोगों की उलटी रीति